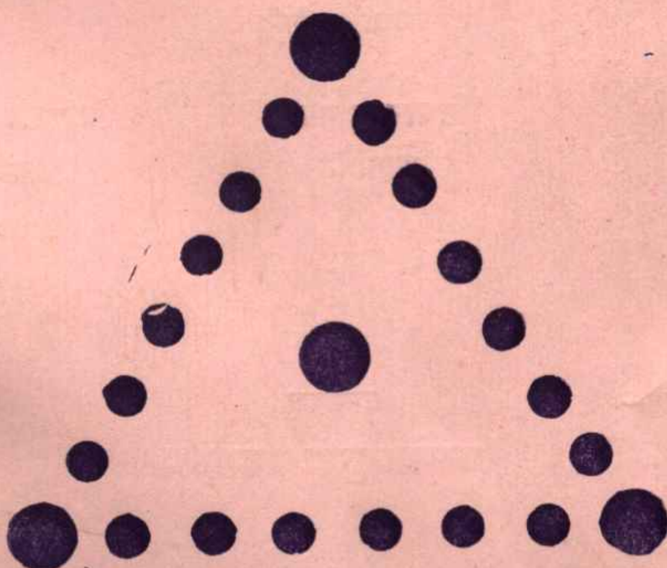
।। श्री ।।

आचार्य श्री अमृतवाग्भव : दर्शन



प्रकाशक :

श्री मदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान

जयपुर–302004

कार्तिक शुक्ला अक्षयनवमी

वि॰ सं॰ २०४१

॥ ॐ ॥

प्रकाशन समिति

दुर्गादत्त शर्मा
अध्यक्ष

सियाराम गर्ग
महामंत्री

गिरिराजशरण गुप्ता
अर्थमंत्री

सम्पादक

अरुणेश कुमार शर्मा

प्रकाशक

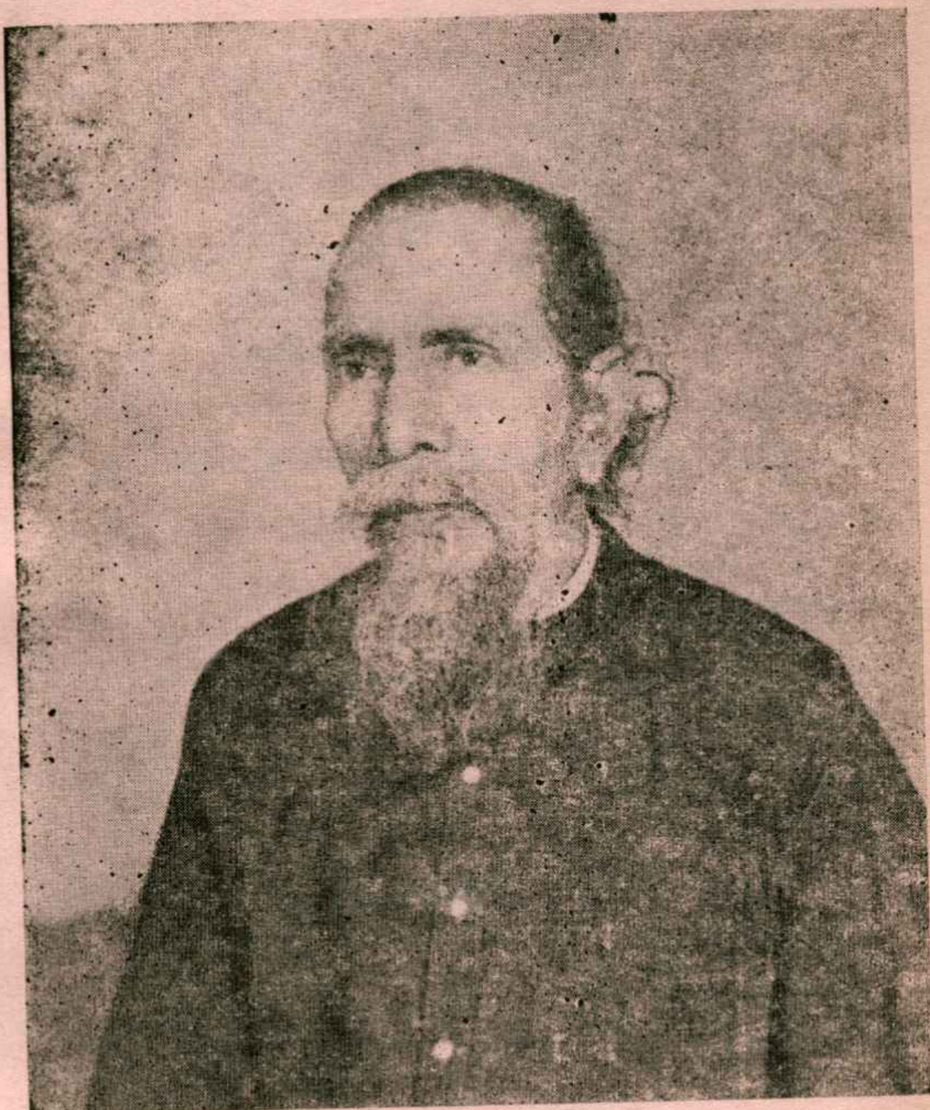
श्री मदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान
जयपुर

मुद्रक :

मॉडर्न प्रिण्टर्स, जयपुर–3

॥ श्री ॥

पूज्यपाद ब्र० अनन्त श्री श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज



जन्म :

आषाढ शु० १०

वि० सं० १९६०

लीलासंवरण :

कार्तिक शुक्ला अक्षय नवमी

वि० सं० २०३९

॥ श्री ॥

आचार्य श्री अमृतवाग्भव : दर्शन



महामहिम आचार्य श्री अमृतवाग्भव

के

पुनीत पाद पद्मों

में

सादर समर्पित

कार्तिक शुक्ला दशमी सं० २०४१
३–नवम्बर १९८४

श्री मदमृतवाग्भवाचार्यं
सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान
जयपुर

॥ श्री ॥

चरण-वन्दन

शिवाप्तिकारणं तापवारणं लालितं हृदि ।
द्वयं गुरोश्चरणयोरद्वयं स्फुरतान्मम ॥१॥

हमारे गुरुदेव के दो चरण हमारे लिये शिवभाव की प्राप्ति के कारण बने हैं, उनसे हमें भवसन्तापों का निवारण हुआ है, वे हमारे हृदय में लालन प्राप्त कर चुके हैं वे हमारे हृदय में अद्वय भाव से चमकते रहें ।

वन्देऽत्रि नन्दनं विश्ववन्दितं करुणार्णवम् ।
कोप भट्टारकं पूर्ण योग दीक्षप्रदं गुरुम् ॥२॥

मैं करुणा के समुद्र, विश्व के द्वारा वन्दित, अत्रि मुनेश्वर के पुत्र और कोपभट्टारक नाम वाले अपने गुरु को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने मुझे पूर्ण योग की दीक्षा देदी ।

—"श्री अमृतवाग्भवाचार्य"

अनुक्रम

: प्रकाश :

: विमर्श :

निवेदनम्

आत्मीय !

भारतीय दर्शन की चिन्तन प्रक्रिया एवं दृष्टि का मूल लक्ष्य मनुष्यत्व की उपलब्धि एवं आध्यात्मिकता रहा है। पूज्यपाद श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी के चिन्तन-मनन का विषय आध्यात्मिकता के साथ साथ राष्ट्र-स्वातंत्र्य एवं राष्ट्रोत्थान भी रहा है। वे ब्रह्मनिष्ठ होने के साथ-साथ अप्रतिभ राष्ट्रनिष्ठ महापुरुष थे। उनके लिये राष्ट्र और राष्ट्रीयता दोनों ही अभिनव अर्थ रखते थे। उनकी दृष्टि में राष्ट्र एक जीवन्त, मूर्तिमन्त और साकार देवता रहा है। आध्यात्मिक पथ के लिये राष्ट्र निष्ठा उनके लिये प्राथमिक अनिवार्यता थी।

"श्री आत्मविलास" की रचना के पश्चात् ही उन्होंने 'श्री राष्ट्रालोक' ग्रन्थ का निर्माण किया। "श्री राष्ट्रालोक" के अन्त में उन्होंने स्वयं ही स्पष्ट किया है कि इसके रहस्य को वही समझसंकेगा जो "आत्मविलास" ग्रन्थ के दर्शन को समझ लेता है। दोनों ही ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं।

देश की स्वाधीनता से पूर्व ही पूज्यपाद आचार्य श्री की प्र रणा एवं संरक्षण में "श्री स्वाध्याय" पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था। आचार्य श्री स्वयं भी उसमें विविध विषयों पर अपने बिचार प्रस्तुत किया करते थे और अनेक विद्वानों द्वारा पूज्य आचार्य श्री द्वारा रचित "सैद्ध दर्शन" पर बिवेचनात्मक एवं गवेषणात्मक विषय भी प्रकाशित हुआ करते थे। ऐसे ही कुछ लेखों का संकलन कर आचार्य श्री की इस पुण्य तिथि पर द्वितीय स्मृति पुष्पांजलि के रूप में संजोने का प्रयास किया गया है।

विश्वास है कि इस द्वितीय स्मृति पुष्पांजलि के दिव्य सौरभ से अनुप्राणित हो उनके प्रति आस्थावान और समर्पित भक्तजन उन्हें अपने और भी निकट अनुभव करेंगे।

इस प्रकाशन कार्य में जिन्होंने सहयोग दिया है उनके प्रति हार्दिक आभार एवं मंगल कामनाऐं।

अभिन्न
दुर्गादत्त शर्मा
अध्यक्ष
श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य
सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान
जयपुर

ए–72 अमृत पथ
जनता कालोनी, जयपुर
दूरभाष–44796

॥ मंगलाचरणम् ॥

रक्त शक्ति ममि तौजसीं कलां
लालितीममृतवर्षिणीं पराम् ।
सारसेऽहमि सहस्रपत्रके
हंसगांमि शिरसि गौरवीं भजे ।।१।।

दिव्यान् सिद्धान् मानवांश्च गुरून् गुरुपरम्पराः
सर्वेषां पादुकाश्चाहं वन्दे वाक्कायमानसैः ।।२।।
पूर्वमङ्गं समस्तानां प्रारम्भाणां प्रधानतः
स्मरणं वारणास्यस्य सर्वं विघ्नौधवारणं ।।३।।
प्रकाशानां विमर्शानां गणानां स्वमहं पतिम् ।
महाशाकसुतं वन्दे प्रारम्भप्रणवं गिराम् ।।४।।
क्षीरोदधेरिवो माया उद्यन्नानन्दयञ्जगत् ।
ग्लौरिव श्री गणाधीशो विघ्नस्तोमं निहन्तु नः ।।५।।
(श्री सिद्धमहारहस्यम्)

अभिनव रमणीयं सच्चिदानंदकन्दं
स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम् ।
अनुभव सुरहस्यं मङ्गलं मङ्गलाना—
मधिहृदि परमेशं मौनमेवाश्रयेऽहम् ।।६।।
(श्री आत्मविलास)

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावो यदायत्तः स्फुरेदयम्
तामात्मशक्ति वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि ।। ७ ।।
(श्री विंशतिकाशास्त्रम्)

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृष-केतवे
पितृपुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमोनमः ८ ।।
(श्री राष्ट्रालोकः)

॥ श्री देव्यास्तोत्रम् ॥

लें०—श्री अमृतवाग्भवाचार्य

अयि माम् वद शर्व भामिनि शरणं
संप्रति कुत्र यान्यहम् ।
त्वदृते नहि किंचिदस्ति मे
वसुधायां शरणं मनागपि ॥ १ ॥

किमु चेतसि चिन्त्यते त्वया
दयया किं मयि नो विलोक्यते ।
वद मातरिदं यथायथं
जननी किं समुपेक्षते सुतम् ॥ २ ॥

प्रिय एव खलोपि जायते
जननित्र्यै स्वसुतो ह्यसंशयम् ।
अहमस्मि शिशुस्तवाम्बिके
करुणार्द्रं कुरु वीक्षणं मयि ॥३॥

सकलं कवि वृन्दमम्ब ते
अकलंकं भजतेंऽघ्रि पंकजम् ।
समलं कुरु मंगलेन माम्
समलं मां किमुशङ्कसे सुतम् ॥४॥

हर मे हर वामलोचने
सकलां त्वं मलपंक संहृतिम् ।
भव भूरि भयापहारिणी
भव सिंधौ भवभीतिचेतसाम् ॥५॥

तव लोचनगोचरा न किम्
सकलेयं मम दुर्दशाम्बिके ।
समयः किमु वीक्ष्यतेऽधुना
झटिति त्वं मयि वत्सला भव ॥६॥

मम मातरिदं श्रृणुष्व मे
वचनं नेत्र-जलेन मिश्रितम् ।

वद रोदिमि कस्य संमुखं
त्वदृतेऽन्यस्थल मेव नास्ति मे ॥७॥

तव संप्रति पाद पंकजे
शतशोऽयं प्रणिपत्य याचते ।
तनयस्तव सर्वथास्म्यहं
दयया मां परिपालयाम्बिके ॥८॥

।। श्री देवी स्तोत्रम् ।।

१. माँ भवानी, मुझे बताओ—इस समय मैं किस की शरण में जाऊँ ? इस भूमण्डल पर मेरी रक्षा करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है ?

२. आप अपने मन में क्या विचार कर रही हैं ? दया-दृष्टि से आप मेरी ओर क्यों नहीं देखती ? मां मुझे ठीक ठीक बताओ मेरी उपेक्षा का क्या कारण है ? माता क्या अपने पुत्र की कभी उपेक्षा करती है ?

३. दुष्ट पुत्र भी माता को प्यारा होता है—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। मां—मैं आप का पुत्र हूं, अतः मेरे ऊपर करुणापूर्ण दृष्टिपात कीजिए ।

४. हे माँ, समस्त कवि समुदाय तेरे सुन्दर चरण कमलों की सेवा करता है। माँ मुझको मङ्गलों से अलंकृत कीजिए। आप अपने मुझ पुत्र को दोषी क्यों समझती हैं ?

५. माँ, आप भगवान् शंकर की प्राण प्रिया हैं। मेरे समस्त पाप समूह का नाश कीजिए संसार के अत्यन्त भय-भाव को दूर करो। संसार सागर में मग्न होने का भय जिनके अन्तःकरण को आक्रान्त कर रहा है, उन्हें अभयदान दीजिए ।

६. माँ, मेरी दुर्दशा क्या आपके नयनगोचर नहीं है ? आप अब समय की प्रतीक्षा व्यर्थ क्यों कर रही हैं ? अब तो आपको मेरे पर शीघ्र कृपा करनी चाहिए।

७. हे मेरी माँ, मुझ रोते हुए की बात सुनने की कृपा करो। आप बताओ, मैं किसके सामने रोऊँ ? आपके अतिरिक्त कोई मेरा आश्रय नहीं है।

८. माँ, मैं आपके चरण-कमलों में शत-शत प्रणाम करके याचना करता हूँ। दया करके आप मेरी रक्षा करो, मैं आपका दयापात्र पुत्र हूँ।

□

आचार्याभिनन्दनम्

—ले०—कविरत्न 'श्री तेजभानु'

आचार्योऽमृतवाग्भवोऽति विदितः श्रीमान् महत्तामहान् ।
विप्रोच्चान्वय नीरधि प्रकटित ज्योत्स्नाढ्य जैवातृ कः ।
विद्या मार्मिक धैर्य धर्म सदलं कर्मीणता भूषणः ।
त्यक्ताऽशेषपरिग्रहो भगवदा शंसानुकूल व्रतः ।
साहित्ये कवि संमुदे कवयतां पीयूष पूषात्मगीः ।
मर्यादा निरतो जनादु परतस्सौम्य स्वभावादृतः ।
राग द्वैष पराङ्मुखः स्थिरमतिर्नित्यं प्रसन्नाननः ।
ईदृक् श्रीनर संभवोऽपि भविनां भूत्यै भवे संभवेत् ।।

अनुग्रहात् संस्कृतसत्कृतानां
सर्वायुषा संस्कृत संस्कृतस्य ।
परिण्कृताविष्कृत भारतीयं
श्री तेज भानोर्महतां स्तवाय ।।

—श्री स्वाध्याय वर्ष १६ अं. ३

□

॥ श्री ॥

सिद्धमहामंत्रस्वरूपिणी

॥ श्रीपरशिवप्रार्थना ॥

आचार्य—श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीता

卐

प्रभो ! शम्भो ! दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयो-
र्भवारण्यादस्माद्विषमविषयाशीविषवृतात् ॥
समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव ! ॥१॥

PRABHOE SHAMBHOE DEENAM VIHIT-SHARANAM TWACHACHA-RANAYORBHAVARANYA DASMAAD VISHAMAVISH-YAA SHEE VISAVRAT AAT. SAMUD-DRITYA SRADDHAA-VIDHURAMAPI BADD-HADAR-KARAM. DAYAA-DRISHTYAA PASHYANNIJ-TANAYA-MAT-MEE KURU SHIVA.

अर्थ– हे सर्वशक्तिमान् ! समस्त संसार का कल्याण करने वाले कल्याण रूप शिव भगवान् ! आपके चरणों में दीन भाव से शरण आये हुये मुझको विषयरूपी भयंकर बिषधर सर्पों से भरे हुये इस संसार रूपी जंगल से बाहर निकाल कर अपनी दयादृष्टि से देखते हुये अपने पुत्र को अपना आत्मीय बनाओ । यद्यपि श्रद्धा आदि का मुझे ज्ञान नहीं हैं, तथापि चारों ओर से भयभीत होकर हाथ जोड़े हुये शरण में आया हूं । अतः अपने इस दीन पुत्र को हे शिव ! अपने आप स्वीकार करो । ॥१॥

धर्म

ले. श्री अमृतवाग्भवाचार्य

धर्म एव हतो हन्ति
धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो
मानो धर्मोऽहतो वधीत् ॥

[यदि धर्म का विनाश किया जाय तो उन विनाशकारियों का ही धर्म विनाश कर देता है। यदि धर्म का रक्षण किया जाय, तो वह धर्म उन रक्षणकारियों का सर्वदा रक्षण करता है । अतः धर्म का हनन कभी नहीं करना चाहिए । पीड़ित धर्म हम लोगों को नष्ट न कर डाले । धर्मपालन ही सर्वदा कल्याणकारक है ।]

समस्त संसार में प्राप्त करने के योग्य सुख व छोड़ने के योग्य दुःख है । यह संसार का स्वभाव है। स्वभाव पलटा नहीं जा सकता । अन्तर्मुखों को अन्तःसुख प्राप्ति की तथा बहिर्मुखों को बाह्य सुख प्राप्ति की इच्छा इसी स्वाभाविक नियम में आबद्ध है। इसी लिए अन्तर्मुख की दृष्टि में बाह्यसुख दुःख रूप भासित होता रहता है । बहिर्मुख को तो अन्तःसुख की कल्पना का स्वप्न भी नहीं होता । किन्तु बाह्य सुख क्षणविनाशी होने के कारण उन्हीं में चिरसुख प्राप्ति की इच्छा तथा क्षिप्र सुखों को छोड़ने की इच्छा भी बहिर्मुख का स्वभाव है । वह स्वभाव ही धर्म है । इसी स्वभाव का परिपालन करने से संसार का पालन हो सकता है । उसका पालन न किया जाय तो संसार उच्छिन्न हो जाएगा । सांसारिक पुरुष अपूर्णज्ञान होने के कारण विशुद्धकाम नहीं हो सकता । वह सर्वदा अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों के उपभोग से तृप्त करना चाहता है; यही अशुद्ध काम है । कामपूर्ति के लिए ही अर्थप्राप्ति करनी पड़ती है। अर्थप्राप्ति भी यदि अवैध होगी तो सुखप्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव अर्थ और काम को सुव्यवस्थित करना होगा । उस सुव्यवस्था के नियमों को ही धर्म (नियम) कहते हैं। इसी कारण प्रवृत्ति—निवृत्ति में ज्ञापक अथवा कारक वाङ्मय को शास्त्र तथा उसके अनुसार चलाने वाले को शास्ता कहा जाता है । जिस प्रकार आम्र के बीज से फल पर्यन्त अवयवसमुदाय आम्र ही कहलाते हैं, उसी प्रकार विधायक व निषेधक वाक्यों से व्यस्थापित क्रिया और तज्जन्य अपूर्वको धर्म कहा जाता है । महर्षि जैमिनि ने स्पष्ट ही कहा है कि:—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" महर्षि मनु भी इसी लिए "आचारः परमो धर्मः" ऐसा कहते हैं । बात यह है कि पुरुष सर्वदा आत्मतृप्ति चाहता है और उसी की कामना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुष के अर्थनीय होते हैं। जितने ही अंश में इनकी सुव्यवस्था पुरुष कर सकेगा उतना ही वह उन्नत होगा । उन्नति में ही तृप्ति का मूल निहित है । इसीलिए महर्षि कणाद धर्म का

लक्षण यों कहते हैं कि—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस: सिद्धिः स धर्मः" तात्पर्यतः संसार के सुव्यवस्थाकारक नियमोंको धर्म कहना चाहिए, यह निष्पन्न होता है। किन्तु स्वाध्याय के बिना उन नियमों का ज्ञान ही नहीं होगा। अतः कहना न होगा कि स्वाध्याय का कितना ऊंचा स्थान है। वेद कहते हैं "स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्"। स्वाध्याय से संसार की सुव्यस्थाविधायक नियमों का परिज्ञान होगा। एवं च अर्थ और काम धर्म ज्ञान पर ही अवलम्बित रहते हैं। जैसे अर्थ प्राप्ति कई प्रकार से हो सकती है, मांग कर, व्यापार से, सेवा से, अयाचित प्रतिग्रह से, किन्तु चोरी, लूटपाट आदि से नहीं हो-सकती ऐसा नहीं कहा जा सकता तो भी संसार की सुव्यवस्था के लिए चोरी आदि उपायों को निषिद्ध किया गया। साथ ही निषिद्ध कार्य करने पर दण्ड-विधान की भी व्यवस्था करनी पड़ी। अन्यथा सुव्यवस्था नहीं हो सकती। काम के विषय में भी ऐसी ही बात है। देखिये इन्द्रियों से उन-उन विषयों का उपभोग किया जाता है किन्तु यदि विषयों के उपभोग करने का कोई नियमविधान न हो तो इन्द्रियों का सामर्थ्य शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा तथा नाना प्रकार के रोग इन्द्रियों को घेर कर दुःख देते रहेंगे। किसी भी यन्त्र को चलाने के लिए उसके अवयवों की पूर्णरूप से आरोग्य व्यवस्था करनी पड़ती है, अन्यथा यन्त्र टूट जाएगा। उस व्यवस्था का ही नाम धर्म है। इसी कारण तत्त्वदर्शी आर्य महर्षियों का यह सिद्धान्त है कि—

विहितस्याऽननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥

[शास्त्रों में जिन कर्मों का कर्तव्य-रूप में विधान है, उन कर्तव्य-कर्मों का आचरण न करने से, तथा शास्त्रों में जिन कर्मों का निषेध किया गया है उन अकार्य कर्मों का आचरण करने से और इन्द्रियवृत्तियों को अविवेक से विषयों में लगा देने से नेता का भी पतन हो जाता है। अतः सम्पूर्ण कार्य शास्त्रानुसार विवेक बुद्धि के अनुसार ही होने चाहिए।]

पतन कोई नहीं चाहता, किन्तु केवल न चाहने से क्या होगा? जब तक अर्थ और काम की संसार में आर्यविध्या सुव्यवस्था न की जाएगी तब तक उन्नति की आशा आकाश-कुसुम के सिवा क्या हो सकती है? संसार में निष्कर्म कोई भी वस्तु नहीं रह सकती तथा वृत्तिहीन भी कोई प्राणी नहीं रह सकता। कार्य-कर्म और अकार्य-कर्म की तथा वृत्ति की सुव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक और स्पृहणीय होने के कारण ही उपनिषदों में लिखा गया है—"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेश एष उपदेशः एषा वेदोपनिषद्।" यदि क्या करना चाहिए और क्या नहीं? इस प्रकार किसी भी कर्म के तथा वृत्ति (जीविका व इन्द्रिय विषयोपभोग) के विषय में किसी प्रकार का भी संशय हो तो वहां रहने वाले तत्त्वदर्शी योग्य सम्पन्न लोभादिरहित सांसारिक सुव्यवस्था की इच्छा रखने वाले ब्राह्मणों से पूछ कर उनकी आज्ञानुसार चलना चाहिए। यही आज्ञा है, यही उपदेश है और यही सम्पूर्ण वेदों का सार रहस्य है।

(श्री स्वाध्याय संवत् १९९८, वर्ष १, सं २)

धर्म को जानने की विधि

जीव के अत्यन्त प्रिय पुरुषार्थ काम को यथेष्ट उपयुक्त करने के लिए साधन संसार में अर्थ है। इसी प्रकार अर्थोपार्जन भी वैध ही होना चाहिए। उस विधि को ही धर्म कहते हैं। प्रत्येक कामना को पूर्ण करने की हितकर विधि (नियम) को धर्मरहस्यज्ञ सनातन ऋषिलोग धर्म कहते आये हैं। किन्तु संसार के हितकर नियमों को भली-भांति जानने के लिए क्या उपाय है; यह बिना ज्ञात हुए धर्म-तत्त्व का ज्ञान असम्भव है।

भारतीय सम्पूर्ण वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता का कितना ऊंचा स्थान है इसके वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं। इस बात को दिखलाना सूर्य को दीपक दिखाने के तुल्य ही है—यह बात भी आज के विश्व में किसी से छिपी नहीं है, अस्तु। भगवद्गीता में ज्ञान प्राप्ति के उपाय के विषय में भगवान् कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

[उस ज्ञान को यदि तुम जानना चाहते हो तो तत्त्व का साक्षात्कार जिन्होंने प्राप्त किया है, उन ज्ञानियों के पास जाओ, उन्हें श्रद्धा से प्रणाम करो, वे जो कुछ बताएँ उसका मनन करते हुए अपनी शंकाओं को उनसे बारम्बार पूछ कर दूर करो और उनकी सेवा करो, ऐसा करने से वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें अवश्य ज्ञान का उपदेश करेंगे।]

इस भगवद्वाक्य को जिन पुरुषों ने भलीभांति पढ़ा है, उनका कहना है कि किसी भी विषय के ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए सेवा, परिप्रश्न और प्रणिपात ये प्रधान उपाय हैं। किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सेवा आदि जिसके किये जायें उसकी परीक्षा पहले ही कर लेनी चाहिए। आप्तपुरुषों से पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जिस विषय का ज्ञान हमें प्राप्त करना है—उस विषय में वह पुरुष भलीभांति जानकारी रखता है या नहीं। जब यह निश्चय हो जाए कि वह उस विषय में पूर्ण पारङ्गत है, तब उसके पास जाकर सेवा आदि से उसे सन्तुष्ट करना चाहिए। अनन्तर वह स्वयं ही ज्ञानोपदेश करेगा। यदि सेवा आदि से सन्तुष्ट न किया जाय तो कथमपि ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। इस विषय पर कहते हैं कि जब भगवान् रामचन्द्र ने रावण को बाणों से जर्जरित कर मृत्युशय्या पर डाल दिया था तब भगवान् रामचन्द्र की आंखों से आंसू आने लगे। उस समय लक्ष्मण ने व्याकुल होकर भगवान् राम से पूछा कि—

"भगवन्! आंखों से अश्रु आने का क्या कारण है? मेरे से कोई अवज्ञा हुई अथवा और कोई कारण है?" इस पर भगवान् कहने लगे कि—

"लक्ष्मण! नहीं, तुमने कोई अवज्ञा नहीं की, आंखों में अश्रु आने का कारण तो यह है कि नीतिशास्त्र का संसार में सबसे बड़ा धुरन्धर पण्डित आज पृथ्वी को सूना करने वाला है!" इस पर लक्ष्मण ने कहा कि—

"भगवन्! इसका प्रतिकार भी कोई है?" तब भगवान् ने कहा कि—

"हे लक्ष्मण! एक ही उपाय है, रावण के नीतिशास्त्र को इस भूमण्डल से नष्ट न होने देने के लिए कोई पुरुष शीघ्र से शीघ्र उस नीतिशास्त्र को जान ले।" लक्ष्मण ने कहा—

"भगवन् ! मुझे आज्ञा करिये, तो मैं अभी सम्पूर्ण नीति-शास्त्र को रावण से समझ लेता हूं !" तब भगवान् ने भी लक्ष्मण को रावण के पास जाने की आज्ञा देदी। किन्तु लक्ष्मण ज्ञान-प्राप्तिके उपाय नहीं जानता था। रावण के पास जाकर रावण के शिर की ओर लक्ष्मण ने खड़े होकर रावण से कहा कि—

"ऐ रावण ! तुम मुझे नीतिशास्त्र बतलाओ।" मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ रावण लक्ष्मण की धृष्टता को देखकर हँस दिया और फटकार कर उसे कह दिया कि—

"भाग जा यहां से, बड़ा नीतिशास्त्र जानने आया है।" तब लक्ष्मण भी क्रुद्ध और खिन्न होकर भगवान् रामचन्द्र के पास चला गया। रावण की असभ्यता की सारी बात सुनाते हुए क्रोध से लक्ष्मण ने कहा कि—

"ऐसा अभिमानी नीतिशास्त्र क्या जानता होगा ?" भगवान् रामचन्द्र ने इस पर लक्ष्मण को सान्त्वना देते हुए कहा कि—

"प्यारे लक्ष्मण ! एक बार फिर रावण के पास जाओ तथा उसके चरणों की ओर खड़े होकर चरण-वन्दना करते हुए हाथ जोड़कर नम्रता से कहना--भगवन् ! मुझे नीतिशास्त्र पढ़ाइये। तब रावण तुम्हें अधिकारी जानकर नीतिशास्त्र का रहस्य अवश्य समझायेगा।"

हुई भी वही बात। लक्ष्मण के चरण-वन्दना करने पर रावण ने कहा कि—

"लक्ष्मण ! तुम बहुत विलम्ब से आए हो और मेरे प्राण-पखेरू अब उड़ने ही वाले हैं, संक्षेप में नीतिशास्त्र का रहस्य यही है कि—"सत्कार्यों को करने में विलम्ब न करो। कुकार्यों को करने में शीघ्रता मत करो।"

अब लक्ष्मण ने ज्ञान-प्राप्ति के उपायों को जाना और उसे सन्तोष भी हुआ। वह समझ गया कि रावण महापुरुष है। भगवान् रामचन्द्र की आंखों में अश्रु आने का कारण ठीक ही था।

धर्म को जानने की यह एक संक्षिप्त विधि है।

(श्रीस्वाध्याय संवत् १९९८, वर्ष १, सं.२)

□

धर्म निर्णय कौन कर सकता है ?

सामान्य और विशेष ये दोनों ही आरोप मात्र होते हैं। जैसे वृक्ष सामान्य हो तो आम्र विशेष। इन दोनों कल्पनाओं की पितृभूमि एक ही रहती है। विशेष आपेक्षिक दृष्टि से कहीं सामान्य हो जाता है और कहीं विशेष। ऐसे ही सामान्य भी आपेक्षिक दृष्टि से कहीं विशेष और वही कहीं पर सामान्य। मूल पदार्थ को इन दोनों में से एक होने का निर्धारण असङ्गत है। दोनों ही भाव उस मूल से प्रकट होते हैं, अत: दोनों ही वह है ऐसा कहा जा सकता है। जो प्रकट होता है वह तो रूपविशेष है और कल्पित। इस दृष्टि की अपेक्षा से जो बाहर प्रकट नहीं होता वह सामान्य मान लिया जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि समष्टि के आधार पर व्यष्टि और व्यष्टि के आधार पर समष्टि का टिकाव आत्मानन्द के लिए मान लिया गया है। किन्तु किसी भी दृष्टि में दोनों में से एक की भी उपेक्षा सह्य नहीं। इन दोनों का आदिम और अन्तिम महाभाव एक ही स्वयम्भूतत्त्व है। इसी बात को समझाने के लिए हमने 'श्री आत्म-विलास' में कहा है—

आत्मा ब्रह्म परः शिवोऽथ परमा
संवित्स्वभावोऽथ वा
सोमो वा पुरुषोऽपि वाऽथ भगवान्
कर्ताऽथ कर्मापि वा ।
बुद्धो वाऽथ जिनोऽपि वा गुरुरथो
हानिर्न काप्यत्र मे
तत्तादृर्शनसिद्धभूरभिमताऽऽनन्दा-
त्मिका पातु माम् ।

मूल एक होता है, शाखा बहुत। एक पिता के पुत्र बहुत हो सकते हैं, किन्तु एक पुत्र के बहुत पिता नहीं। एक में कलह नहीं होता, कलह की सम्भावना तो अनेक में ही है। कल्पित मिटाया जा सकता है, अकल्पित नहीं। अशान्ति कल्पित है और शान्ति अकल्पित। कल्पित और कृत्रिम पर्यायमात्र है। इसी को विकृति भी कह सकते हैं। प्रकृति स्थिर है, विकृति अस्थिर। प्रकृति आधार है, विकृति आधेय। आधार और धर्म एक ही वस्तु है। अस्थिर को धर्म कहना आत्म-वञ्चना होगा। धर्म का निर्माण नहीं होता, उसका तो साक्षात्कार किया जाता है। वह तो सिद्ध वस्तु है। उसके साक्षात्कार से अनेकता में अनुस्यूत एकता के दर्शन होते हैं। अशान्ति मिट जाती है। दुःख सुख हो जाते हैं। कलह भाग जाते हैं। अव्यवस्था विलीन हो जाती है। अधर्म शब्द का अर्थ है जो मूल नहीं। उसे तो शाखा, कल्पित, कृत्रिम, बनावटी आदि कह सकते हैं। कल्पित प्रकृति वास्तविक नहीं। इसी कारण महर्षि कणाद ने—**"यतोऽभ्युदयनिश्रेयःस सिद्धिः स धर्मः।"**—ऐसा धर्म लक्षण किया। निःश्रेयस तो आत्मसाक्षात्कार के बिना हो ही नहीं सकता। अभ्युदय तो काल्पनिक होता है। कल्पित ही सारी सृष्टि और उसमें भी कल्पित ही सारा कार्यकारणभाव। और फिर उनके अनन्तानन्त नामरूपों की कल्पना। उसीमें फिर जी तोड़ वज्रकठोर घड़तोड़ की चिन्ता और परिश्रम, और उसका फल —"जायस्व म्रियस्व।" आत्मानुग्रह होने पर अन्तर्मुखता होती है। बहिर्मुखता तो निग्रह है, जड़ता है। बहिर्मुख अशान्त होते हैं। उनकी वह अशान्ति ही उन्हें धर्माधर्म का विवेक नहीं होने देती। अन्तर्मुख शान्त होते हैं। उन्हें धर्माधर्मका परिज्ञान होता है। वे ही धर्म का साक्षात्कार करा सकते हैं। कल्पित आदर्श अनेक हो सकते हैं। अकल्पित में मतभेद मिट जाते हैं। अन्तर्मुखों की श्रुति तथा स्मृति सभी प्रकार की सुव्यवस्था स्थापित करने की क्षमता रखती है। बहिर्मुखों को तो जनश्रुति ही प्रिय होती है। उनके मत में जनश्रुति से बढ़ कर उत्कृष्ट कुछ नहीं। बाह्य नामरूपों की चकाचौंध से उनकी आँखें चुंधियाई होती हैं, तो भी पशुबल से बली होकर भी वे अपने आपको ऋषि मनवाने का हठ करते हैं। अव्यवस्था को ही व्यवस्था नाम देते हैं। कल्पना किसी श्रेणी की हो, उसकी स्थिरता की अभिलाषा हो तो विधि और निषेध देखने ही होंगे। इन सुनिरीक्षित विधि निषेधों पर सादर चलने से ही अभीष्ट आदर्श की स्थिर रक्षा होगी, अन्यथा नाश। सामान्य विधि-निषेध सामान्य की और विशेष विधिनिषेध विशेष की स्थिरता रखने में सहायक हो सकते हैं। इसीलिए व्यष्टि नियम समष्टि पर और समष्टि नियम व्यष्टि पर हठात् लादने से क्या सुख होगा? आत्म ज्ञान से बली आत्मनिष्ठा से वशिष्ठ ही वास्तविक ऋषिपद के अधिकारी हैं। वे ही वस्तुतः धर्माधर्मनिर्णायक हो सकते हैं। वे चोर को साहू और साहू को चोर नहीं कहते। वे कुलटा को पतिव्रता और पतिव्रता

को कुलटा नहीं मानते। वे गधों को घोड़ा और घोड़ों को गधा नहीं बतलाते। वे अधरोत्तर (विप्लव) नहीं करते। जिससे असन्तोष बढ़े, अपहारवृत्ति फैले, काम-क्रोध लोभ-मोह-मद मत्सरों को व्यवस्थापक माना जाये, क्या उसको सुव्यवस्था माना जा सकता है? वेश्याओं की मनोवृत्ति पातिव्रत्य को सुरक्षित रखने का भार वहन कर सकती है? कदापि नहीं। भोगवाद को आदर्श मानने वाले त्यागवादियों के लिए विधिनिषेध का निर्माण करके उन्हें सुख पहुंचाएंगे? हाँ, यदि अन्धे आँख वाले कौन और अन्धे कौन इसका निर्णय कर सकते हो तो यह भी सम्भव है।

मौर्य चन्द्रगुप्त का साम्राज्य कितना सुविशाल और कितना सुसमृद्ध था, इसको इतिहासवेत्ता जानते हैं। इस सम्बन्ध में 'मेगास्थनीज' के कुछ संस्मरण देखने योग्य हैं। उस सुविशाल साम्राज्य के सम्राट् पद पर चन्द्रगुप्त को अभिषिक्त करने वाला महा-मनीषी प्रधान महामन्त्री आर्य चाणक्य विष्णु शर्मा किसी प्रासाद में रहने की अभिलाषा नहीं रखता था। इस विषय में आज से पन्द्रह सौ वर्ष पहले महाकवि विशाख-दत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' नाटक में आर्य चाणक्य के निवास स्थान का वर्णन करते हुए जो लिखा है वह आज के विधान निर्माताओं को तथा शासन का दम्भ भरने वालों को आँखें खोल कर देखना चाहिए। महाकवि कहता है—

उपल शकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोममेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥

[यह देखिये भारत के प्रधान महामन्त्री चाणक्य विष्णुशर्मा का निवास स्थान—छत के छज्जों पर लकड़ियां सूखने डाली हैं और उनके बोझ से कुटिया की छत तथा छज्जे झुक गये हैं। भींतें पुरानी हो गई हैं। यह देखिये सूखी गोबर की पाथियों को तोड़ने का यह छोटा बट्टा रक्खा है। यह देखिये इधर कुशोंका स्तोम (पूलों का ढेर) भी रक्खा है। विद्यार्थी इन्हें ले आते हैं। यही इनका घर है।]

चाणक्य के बनाये कौटिलीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाले भलीभाँति जानते हैं कि धर्म निर्णय के लिए उन्होंने श्रुति स्मृति को ही प्रमाण माना है। जैमिनिमहर्षि का धर्म-विचारशास्त्र (पूर्वमीमांसा) जिन्होंने गुरु-सुश्रूषा करते हुए पढ़ा है, संसार भर के धर्म व्यवस्था का निर्णय करने में निःसंशय योग्य माने जा सकते हैं। किन्तु इस अपहार युग में अनार्यतन्त्र में उन्हें अयोग्य माना जाता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। गणतन्त्र (पार्टीबन्दी) हो अथवा व्यक्तितन्त्र (डिक्टेटर-शाही) दोनों ही अनार्यतन्त्र हैं। वे कभी भी शान्ति-स्थापना नहीं कर सकते। भारत के वर्तमान नेता यदि भारत में सुख-शान्ति स्थापना करना चाहते हैं, तो उन्हें अनार्य-तन्त्र को आदर्श मानना छोड़ना होगा। जिस तन्त्र के आधार पर संसार के जगद्गुरु पद पर लाखों वर्ष भारत प्रतिष्ठित रहा वह धर्मतन्त्र ही था और उसी धर्मतन्त्र का आ-श्रय लेना होगा। अमेरिका-रूस आदि भौतिक दृष्टिवालों का आदर्श भारत का कल्याण नहीं, विनाश कर डालेगा। समय रहते चेतना चाहिए। रूसी साम्यवाद काल का विकराल गाल बनता जा रहा है। उधर अमरीकी आढ्यगणनीति भारत को महा-मारी के समान हड़पने की चालें चल रही

है। अंग्रेज अब भी भारत को बलिदान का छाग (बकरा) बना कर स्वर्गभोग बनाये रखने के जी-तोड़ प्रयत्न में लगे हैं। भारत के कुछ अवयवों को काटकर उसे पाकिस्तान नाम दे न्याय-निर्णय की भूलभुलैया में फाँसकर जो भी भारत का विनाश किया गया है, उसे सब जानते हैं। आँखों पर पट्टी बांधकर बातें बनाने वाले भले ही न जानने का ढोंग रचें। आज अरबों रुपयों की हानि और लाखों मनुष्यों का प्राण नाश हो चुका है। सहस्रों नारियों का अपमान भारत ने सहा है। कोट्याधिक भारतीय वृत्तिहीन और स्थानविहीन हो गये हैं। हमारे यहाँ ऐसे कुसमय में हिन्दुकोड बिल जैसे राष्ट्र में फूट, असन्तोष, विद्वेष, अधर्म आदि विनाशकारी अनिष्ट बढ़ाने वाली वस्तु को प्रचारित करने की चिन्ता लग रही है। शासकगण और उनके अनुयायियों में दिन प्रतिदिन पद-लोलुता उत्कोचग्राहिता(रिश्वतखोरी)उद्दण्डता उच्छृङ्खल स्वेच्छाचारिता इतनी बढ़ रही है कि जिसका वर्णन भी भयप्रद है। अधिक क्या लिखें, अन्त में शासकपदारूढ़ नेताओं से इतना ही निवेदन है कि भारत को संसार में पूर्ण स्वतन्त्र सुखशान्तिसमृद्ध बनाना है तो सबसे पहले अन्न-वस्त्र और रहने का स्थान, इनका उचित वितरण और व्यवस्था-पन अत्यधिक आवश्यक है। साथ ही शासन यंत्र को स्निग्ध निर्मल तथा उचित गतिमान बनाया जाना चाहिए। राष्ट्र के नेताओं को तथा शासकों के सभ्रेणिकों को सबसे अधिक और सबसे प्रथम अपरिग्रहता का आदर्श सर्वसाधारण जनता के समक्ष आचरणपूर्वक उपस्थित करना होगा। खाली बातें बनाने से राष्ट्र अत्यधिक दुर्दशाग्रस्त हो जायेगा। चीन की पुनरावृत्ति भारत में न होने पाये यदि ऐसी इच्छा हो तो मुट्ठीभर लोगों के मत को बहुमत बनाने का ढोंग सर्वथा छोड़ देना होगा। भूस्वामित्व का अपहार करने से और धनपतियों पर बड़े-बड़े कर लगा देने से सुख समृद्धि नाहीं होगी। नाहीं बुद्धिसाम्य हो सकेगा। आध्यात्मिक साम्यवाद के आधार पर व्यावहारिक औचित्यवाद का आश्रय लिए बिना अनर्थ नहीं टलेगा। 'भूपति' का आदर्श नीच है और 'भूपुत्र' का उच्च; यह बात यावत्पर्यन्त लोगों की समझ में न आयेगी तावत्पर्यन्त भू (राष्ट्र) की सेवा कभी न होगी। आज के भूपतियों को हटाकर किसानों को भूपति बनाने से ही शान्ति नहीं हो सकगी। आज के धनपतियों को निर्धन बनाने मात्र से शान्ति स्थापना कभी भी सम्भव नहीं। श्रौतस्मार्त्त विधानों के हटाने मात्र से व्यवस्था नहीं होगी। अन्त-र्मुख दृष्टि से प्रकृति निरीक्षण बिना किये जो भी शासन विधान लोगों पर हठात् थोपे जायेंगे वे नये से नये विप्लवों को निमंत्रण होंगे। प्रत्येक नये शासन में तात्कालिक शासक नये-नये विधान बनाते रहेंगे तो एक लम्बी शोधप्रतिशोधों की अनर्थकारिणी परम्परा चलती रहेगी और राष्ट्र में जनता के कष्टों का कोई ठिकाना न रहेगा। फिर "विनायकं प्रकुर्वाणों रचयामासवानरम्" ऐसी दशा होगी। राष्ट्र स्वर्ग के स्थान में नरक बन जायेगा। अतः बारम्बार यही प्रार्थना है कि नेतागण ऐसी कोई अनर्थ-कारिणी बात न करें। एक बात और —अशक्त अन्याय नहीं कर सकता। शक्ति-मान् ही अन्याय करते हैं। इसलिए हमारा स्पष्ट निवेदन है कि शासक गणों के सभ्रे-णिकों की जांच गुप्तचरों द्वारा कड़ाई से होनी चाहिए और उनपर पूर्ण नियन्त्रण अध्यात्मवाद, अपरिग्रहवाद के आधार पर होना चाहिए। केवल कांग्रेसी सिद्धान्त से सहमत न रहने वालों की जांच से या उनको

कारालयों में डाल देने से या उन पर करों का बोझ लाद देने से अथवा और किसी वस्तु की सुविधा उन्हें न देने से, या उनकी वस्तुओं का अपहार करने से राष्ट्र की सेवा न होगी। केवल कांग्रेसी सदस्य हो जाने से या शिरसे पैर तक मोटा खद्दर धारण कर लेने से राष्ट्र उन्नत न होगा। यावत्पर्यन्त राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको स्वतन्त्र सुखी अनुभूत न करेगा तावत्पर्यन्त राष्ट्र उन्नत न होगा। इसलिए एक किसी भी गण का निश्चित किया हुआ शासन-विधान हठात् सब पर लागू करता सुख नहीं दुःख फैलायेगा, अस्तु। राष्ट्रहितैषी सुख समृद्धि स्थापित करने की अभिलाषा रखने वाले हमारे इस निवेदन पर अवश्य अवधान देंगे।

श्री स्वाध्याय संवत् २००६ वर्ष ८ सं. ३)

□

अर्थ

ले.—श्री अमृतवाग्भवाचार्य

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः सम्वृद्धेभ्यस्ततस्ततः।
प्रवर्त्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतिभ्य इवापगाः ॥

[सम्पत्ति की उन्नति से तथा अधिकाधिक उन्नति से पर्वतों से नदियों के समान सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न होते हैं]

इस मनुष्य लोक में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अधिक से अधिक अपनी आकांक्षा की पूर्ति कर सकता है। "नर करनी करे तो नरका नारायण होय" यह कहावत सोलहो आने सच ही है। प्रत्येक मनुष्य पुरुष-जीव-भाव में आबद्ध जिस क्षण से हुआ उसी क्षण से उसे अपने में एक त्रुटि दिखाई देने लगी। फिर उसीकी पूर्ति के लिये यावज्जीव जी तोड़ परिश्रम करने लगता है। वह प्रत्येक क्षण संसार की अनन्त वस्तुओं पर दृष्टि डालता है, किन्तु उसकी दृष्टि इतनी विशाल नहीं, कि सबको एक बारगी ही देखले। फिर भी वह यही चाहता है, कि मैं असमर्थ नर न रहूं। सामर्थ्य की पूर्णता ही उसका एकमात्र ध्येय हो जाता है, यह बात अलग है कि सफलता लाखों में किसी एकाध के गले में माला डाल उसकी चेरी होती है। इसीलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।

[सहस्रों मनुष्यों में सिद्धि के लिए कोई ही पुरुष प्रयत्न करता है। प्रयत्न करने वाले सहस्रों में भी आत्मरूप मेरा वास्तविक ज्ञान किसी को ही होता है]

हां, परिश्रम कभी न कभी सफल अवश्य होगा। एक दिन वह अवश्य ही आएगा, जिस दिन पुरुष अपने आपको पूर्ण तृप्त पाएगा। इन्द्रियों के द्वारा नानाविध सांसारिक पदार्थों का उपभोग किया जाता है। जिससे पूर्णकामता पाई जाती है। इसीलिए अर्थतत्त्वज्ञ ऋषिलोग सांसारिक वस्तुमात्र को अर्थ कहते हैं। इन पदार्थों से व्यावहारिक काम की पूर्ति की जाती है। प्रत्येक पुरुष के पास सम्पूर्ण पदार्थ नहीं रह सकते। कारण—वह अपूर्ण है। किन्तु पूर्णता की कामना सहज स्वाभाविक होने से अर्थ में विनिमय की स्थापना अत्यन्त आवश्यक भासित होती है। अनन्तर प्रत्येक पदार्थ का मूल्य भी निर्धारित किया जाता है। मूल्य निर्धारण करते समय इन बातों का अवश्य विचार करना पड़ता है, जैसे—यह पदार्थ सुलभ है? अथवा दुर्लभ? लोकोपकारिता के गुण किसमें अधिक हैं, किसमें न्यून। लोकोपकारिता और दुर्लभता ये दोनों गुण जिस पदार्थ में जितनी अधिक मात्रा में होंगे, उतना उस पदार्थ का मूल्य अधिक हो जाएगा। मूल्य सर्वदा एकसा रहना इसी

कारण सम्भव नहीं। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति से लेकर उसके भोग पर्यन्त विचार कर उसकी उपयोगिता, उसकी लोकहित-कारिता, उसका स्थायी परिणाम, तथा उसकी स्थिरता, इत्यादि सब बातों को देख-कर उसका मूल्य निर्धारित किया जाना चाहिए इसकी व्यवस्था के लिए आर्य पुरुष जिन नियमों का निर्माण कर देते हैं, वह सब धर्म है।

जिस राष्ट्र में जितने अधिक पदार्थों का उत्पादन, उनका संग्रह, उनका संरक्षण तथा उनका उचित उपयोग होता है, वह राष्ट्र उतना ही अधिक अपनी कामना को पूर्ण कर सकता है। वही राष्ट्र संसार में जीवित रह सकता है तथा शान्ति स्थापित करने में समर्थ हो सकता है। राष्ट्रालोक में भी लिखा है कि—

वस्तु शक्योत्पत्ति राष्ट्रा-
न्तरादायाति यत्र तत्।
नाशमाशु प्रयात्येव
राष्ट्रमाल-स्यसंयुतम्॥

[जिस पदार्थ की उत्पत्ति का जिस राष्ट्र में सम्भव है, उस राष्ट्र में वही पदार्थ दूसरे राष्ट्र से यदि वहाँ आते हों, तो वह राष्ट्र आलसी तथा अकर्मण्य हो जाएगा। अनन्तर शीघ्र ही अवनति के गड्ढे में गिर जाएगा]

कोई भी कार्य स्वातन्त्र्य के बिना सम्भव नहीं। इसी कारण स्वातन्त्र्य सबसे पहिला और सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना जाता है। तथा अन्तिम ध्येय भी स्वातन्त्र्य ही सबका होने से उसको चौथा पुरुषार्थ भी कहते हैं। स्वातन्त्र्य की प्राप्ति व उसका संरक्षण यह सब मोक्ष स्तम्भ का विषय है। अर्थ और काम की सुव्यवस्था करने के लिए नियमों का निर्माण धर्मस्तम्भ का विषय है। इन्द्रियों को सुन्दर सुदृढ़ बनाना तथा पदार्थ का उपभोग करना यह सब कामस्तम्भ का विषय है। कृषि व्यापार आदि विनिमय साधनों का स्थापन, व्यव-स्थापन, आदि सब अर्थस्तम्भ का विषय है। उन्नति की कामना करने वालों को प्रत्येक क्षण इन बातों की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा। उन्हें प्रत्येक प्रयत्न से अपने राष्ट्र को समृद्ध करने की भी चेष्टा करनी ही होगी। राष्ट्र की आय और व्यय की जांच करनी ही होगी। आय से अधिक एक कौड़ी का भी व्यय एक दिन कुबेर को भी भिखारी बना देगा। एक एक कौड़ी का भी सञ्चय किसी दिन भिखारी को भी कुबेर बना सकता है। इसीलिये नीतिशास्त्रज्ञों ने कहा है—

क्षणशः कणशश्चैव
विद्यामर्थञ्च साधयेत्।
क्षणनाशे कुतो विद्या
कणनाशे कुतो धनम्॥

[विद्या के चाहने वाले पुरुष को एक एक क्षण की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। एवं धन को चाहने वाले को एक-एक कण की भी उपेक्षा उचित नहीं। एक क्षण के नाश से भी विद्या तथा एक-एक कण के नाश से भी धन का सञ्चय कैसे हो सकता है?]

(श्री स्वाध्याय संवत् १९४८, वर्ष २,सं.२)

□

काम

ले. श्री अमृतवाग्भवाचार्य

अकामस्य क्रिया काचिद्
दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्त
त्तत्कामस्य चेष्टितम् ।।

[इस संसार में कामना रहित पुरुष की कोई भी क्रिया किसी भी समय दिखाई नहीं देती। प्राणि-मात्र जो भी कुछ करता है वह प्रत्येक कर्म काम की ही चेष्टामात्र है।]

आजकल 'काम' शब्द का उच्चारण करते ही लोग केवल गुह्येन्द्रिय की वासना को ही समझ बैठते हैं। किन्तु वस्तु-स्थिति इसके विपरीत है। स्वाध्याय न करने से ही ऐसा हो रहा है। काम तथा इच्छा पर्याय-मात्र हैं। समस्त संसार की उत्पत्ति का मूल कारण वस्तु काम है। जिस प्रकार बीज तथा फल में अवस्था तारतम्य से नाम की व्यवस्था की गई है उसी प्रकार कारण व उद्देश्य एक ही वस्तु के दो ओर-छोर हैं। देखिये, मूर्ख से लेकर विद्वान्-पर्यन्त बिना प्रयोजन के किसी कर्म में प्रवृत्त होता हो, ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं:—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।

यदि कोई कहे कि सकामता श्लाघनीय नहीं, क्योंकि वह मनुष्य को स्वार्थी बना देती है तथा आगे चल कर स्वार्थी ही अनार्य हो जाता है। अनार्यता संसार में अशान्ति-प्रचार का मूल कारण है। किन्तु उन्हें यह भी सोचना होगा कि अकामता का रहना सम्भव भी है ? अकामता संसार में आकाश के फूल के समान असम्भव है। जब सारे संसार का मूल ही काम रूप है, तो उससे उत्पन्न होने वाले संसार में अकामता की सम्भावना कैसे हो सकती है ? अत एव संसार के मूल को रहस्य शास्त्रों में तन्त्ररहस्य-विद् महर्षियों ने महाकामेश्वर कहा है। तथा उसकी अभिन्नस्वरूप महाशक्ति महाकामेश्वरी कही जाती है। श्रुति कहती है "स एकाकी न रमते", 'अतः' स द्वितीय मैच्छत्" मूलतत्त्व आनन्दस्वरूप है। तथा अभिनवरमणीय है। उपनिषद् में कहा है "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति।" कमनीय होने के कारण काम नाम पड़ा है। पुण्यानन्दनाथ कहते हैं— "कामः कमनीयतया" एवञ्च संसार सारा ही काममय है, ऐसा मानना ही होगा। यह कोई निन्दनीय बात नहीं है । इसी कारण प्रत्येक प्राणिमात्र सकाम है, तथा प्रतिक्षण काम की ही कामना से व्याप्त है। अपने आपको छोड़कर कौन रह सकता है ? काम अपना आत्मरूप है। श्रुति कहती है "सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायीत" हां, यच्च यावत्संसार आत्मरूप से पूर्ण अनुभूत होने पर ही पूर्णकामता सम्भव है, यह बात ठीक ही है। इसी लिये भगवान् कहते हैं:—

यस्त्वात्मरतिरेव स्या
दात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्ट
स्तस्य कार्यं नविद्यते ।।

[जो मानव अपने आप में ही प्रेम करता है, अपने आप से ही तृप्त है तथा अपने आप से ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्म शेष नहीं रहता ।]

मूल महाकामेश्वरी महाकामेश्वराऽमिन्न विन्दु ही इस संसार-सिन्धु का विसर्ग करता है । इस निसर्ग को समझ लेने से व इसकी अनुभूति-सिद्धि के हो जाने से स्वर्गाऽपवर्ग की उलझन भी सुलझ जाती है, मूल शिव विन्दु ही इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया स्वरूपों से पूर्णकामना का पूर्णानन्द ले रहा है, यह है काम रहस्य ! विशेष बातें हमारे 'श्रीआत्मविलास' 'श्रीराष्ट्रसंजीवन' 'श्रीमहानुभवशक्तिस्तव' में जिज्ञासु पाठक देख सकते हैं । साधारण पुरुषों को इस उलझन को सुलझाने का उपाय भगवान् मनु ने यों कहा है:—

कामात्मता न प्रशस्ता
न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्योहि वेदाधिगमः
कर्मयोगश्च वैदिकः ।।

[कामना के एकमात्र वश रहना अच्छा नहीं, किन्तु इस संसार में अकामता का होना सम्भव नहीं । ऐसी परिस्थिति में कल्याणकर तो यह है— वेदों का स्वाध्याय कामना के योग्य है । तथा ज्ञानशक्ति का मूल अर्थात् इच्छा शक्ति कामना के योग्य है, तथा ज्ञानशक्ति के अनुकूल कर्मकलाप भी कामना करने के योग्य है ।] क्रिया ज्ञान तथा इच्छा इन सभी की कामना में उपादेय रूप से अथवा हेय रूप से पुरुषमात्र की जो भी प्रवृत्ति होती है, वह सब आत्मतृप्ति के लिए ही । जीवभाव में आबद्ध जीव की तृप्ति के लिये, तथा शिवभाव में आबद्ध शिव की तृप्ति के लिए । जीव अथवा शिव जिनकी कामना से आबद्ध होता है, उन काम्यरूपों को विषय कहते हैं । 'विशेषेण सिन्वन्ति वध्नन्ति ते विषयाः, इस प्रकार शास्त्रकारों ने विषय शब्द की व्युत्पत्ति की है विषयों का उपभोग करने के लिये जो साधन, द्वार या करण, निर्मित किये गये हैं । उनको इन्द्रिय कहते हैं । विषयों का इनमें होम किया जाता है, जीव अथवा शिव के लिये यह एक महान् यज्ञरहस्य है । वेदादि सच्छास्त्रों में इसी कारण इनको देव कहते हैं । इन इन्द्रियों की शक्तियों को वहिर्मुखता में वृत्ति तथा अन्तर्मुखदशा में करणेश्वरी देवी आदि रहस्यविद् विद्वानों ने कहा है । रहस्य का अधिक खोलना अच्छा नहीं । जिज्ञासु पाठक आत्मविलासादि ग्रन्थों को सद्गुरु से पढ़ें ।

राष्ट्र को स्वतन्त्र तथा पूर्ण आर्य बनाए बिना विश्व में पूर्ण सुख व शान्ति की स्थापना संभव नहीं । राष्ट्र को स्वतन्त्र वा पूर्ण आर्य बनाने के लिये प्रत्येक राष्ट्रीय को कामशास्त्र का स्वाध्याय भी परमावश्यक है । प्रत्येक इन्द्रिय को उसके विषय का उपभोग करने के लिये पूर्ण समर्थ बनाना तथा प्राप्त सामर्थ्य का अक्षुण्ण रखना ये सब बातें जिन शास्त्रों में हों, वे सब कामशास्त्र हैं । उपभोग्य विषयों को उपभोग योग्य बनाने के उपाय जिसमें वर्णित हों उसको भी कामशास्त्र कह सकते हैं । जैसे बाल संवारना, वस्त्र पहनना, आभूषण पहनना, भोजन बनाना, भोजन करना, झूलना, तैरना, फूल, तैल, इत्र, चन्दन, पान आदि तैयार करना, उपवन-विहार, जलक्रीड़ा आदि-आदि । कामशास्त्र के अध्ययनसे मनुष्य पशुप्राय हो जाते हैं । देखिये, शासक की सभा,

पण्डित की सभा, कैसी होनी चाहिए। गृह-निर्माण, उपवननिर्माण, नगरनिर्माण, ग्राम-व्यवस्था, पदार्थव्यवस्था, आदि अज्ञात हो तो पशु में तथा मनुष्यों में क्या अन्तर है? मनुष्यजीवन आनन्दमय बनाने के लिये मोक्ष, धर्म, तथा अर्थ के साथ ही काम का भी स्वाध्याय करना ही होगा। प्रत्येक विषय का उपभोग करते समय उसके कारण तथा फल का ज्ञान परम आवश्यक है। उसके बिना मनुष्य-मनुष्य नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाय तो काम ही परम पुरुषार्थ है। अर्थ और धर्म तो इसके साधनमात्र हैं। मोक्ष भी काम की परिपूर्ति का असाधारण साधनमात्र ही है। हां, व्यावहारिक काम से पारमार्थिक काम अतिश्रेष्ठ है। इसी कारण पारमार्थिक मोक्ष भी सर्वश्रेष्ठ साधन है। हां, कुछ भी हो कामशास्त्र के स्वाध्याय के बिना विश्व सुखी नहीं हो सकता। हां, अशुद्ध काम को बिना नष्ट किए विशुद्ध काम की प्राप्ति नहीं होती। मनु ने जो कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥

[कामनाओं के उपभोग से कभी भी काम शान्त नहीं होता। घृतादि होमद्रव्यों के हवन से जिस प्रकार अग्नि बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार काम बढ़ता ही जाता है।]

यहां पर काम का तात्पर्य अशुद्ध काम से है। इन सब बातों का ज्ञान कामशास्त्र के स्वाध्याय के बिना कैसे हो सकता है? सारांश तो यही है कि—राष्ट्रियमात्र को अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र व उन्नत बनाने के लिए काम-शास्त्र पढ़ना ही होगा। शिवमस्तु!

(श्री स्वाध्याय संवत् १९९८, वर्ष १, सं. १)

□

मोक्ष

ले. श्री अमृतवाग्भवाचार्य

मोक्ष और स्वातन्त्र्य पर्यायमात्र ही हैं। संस्कृत साहित्य में मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति "मुच्लृ मोक्षणे" इस धातु से की गई है। उसका अर्थ है छूटना। छूटना बिना बन्धन के नहीं हो सकता, अतः बद्ध का ही मुक्त होना सम्भव है। दूसरे प्रकार से यदि कहना हो तो कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्य-प्राप्ति करना ही मोक्ष प्राप्त करना है।

स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के बिना कोई भी कार्य सम्भव नहीं। स्वतन्त्रता में जितनी ही आंशिक त्रुटि होगी उतनी ही सुख-प्राप्ति में त्रुटि होगी। सुख प्राप्ति की इच्छा प्राणिमात्र के हृदय में निरन्तर निवास करती है, किन्तु परतन्त्रता उनको सुख प्राप्त नहीं करने देती। परतन्त्रता से सर्वदा दुःख-प्राप्ति होती है। सुख प्राप्ति का साधन स्वतन्त्रता के सिवा अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में दूसरा कोई नहीं है। कहा भी है—

दुःखमूलं पारतन्त्र्यं
सुखमूलं स्वतन्त्रता।
अतः सर्वात्मना सर्वै
स्तस्याः प्राप्त्यै प्रयत्यताम्॥

[दुःख का मूल परतन्त्रता तथा सुख का मूल स्वतन्त्रता (मोक्ष) है। इसी कारण सब लोगों को चाहिए कि सम्पूर्ण सुख देने वाली उस स्वतन्त्रता (मोक्ष) प्राप्ति के लिए सब प्रकार से प्रयत्न करें।]

स्वातन्त्र्य यदि न हो, तो नियम बनाना अथवा बने हुए नियमों पर चलना सम्भव नहीं। दूसरे का दास तीसरे के पास अपने प्रभु की आज्ञा के बिना जा नहीं सकता, इस बात को प्रतिदिन का अनुभव साक्षी है। कोई भी कार्य हो, स्वातन्त्र्य के बिना उसकी सिद्धि हो ही नहीं सकती—इसीलिए सबसे पहले इसी को प्राप्त करना चाहिए और इसी की रक्षा भी करनी चाहिए। किन्तु अनार्यों की स्वेच्छाचारिता का नाम ऊपर-ऊपर स्वातन्त्र्य होने पर भी वस्तुतः वह स्वातन्त्र्य नहीं है। जो स्वातन्त्र्य दूसरे को दास बनाने के लिए उपयुक्त किया जाता है वह स्वातन्त्र्य पूर्ण स्वातन्त्र्य कैसे हो सकता है? आम के आम और नीम्बू के नीम्बू फला करते हैं, स्वातन्त्र्य से पारतन्त्र्य उत्पन्न करना या होना यह वास्तव में स्वातन्त्र्य का लक्षण नहीं। स्वातन्त्र्य सबको समान रूप से हितकर स्वतन्त्रता को प्रदान करता है। ठीक देखा जाए तो हितकर स्वातन्त्र्य का ही नाम स्वातन्त्र्य है। अन्यथा वही अहितकर होने पर पारतन्त्र्य बन जाता है। किन्तु आज-कल की अनार्य लोगों की परिभाषा में स्वातन्त्र्य की जो

छीछालेदर हो रही है उसे देख बहुत दुःख से कहना पड़ता है कि स्वातन्त्र्य का मूल्य ही कुछ न रहा। प्रथम तो स्वातन्त्र्य की परिभाषा जब तक आर्यों की ओर से न की जाएगी तब तक स्वातन्त्र्य का ज्ञान ही नहीं हो सकता। आर्यों की परिभाषा में स्वातन्त्र्य वह वस्तु है जो समस्त संसार का पूर्णरूपेण कल्याण करती है। इसीलिए स्वाध्याय की परम आवश्यकता है। आत्म-विषयक अध्ययन जब तक अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर न किया जाएगा तब तक स्वातन्त्र्य का ज्ञान कैसे संभव है? मोक्ष (स्वातन्त्र्य) की, वह पारमार्थिक हो अथवा व्यावहारिक इच्छा सर्वदा होने पर भी उसका स्वरूप ज्ञान तथा कारण व उद्देश्य का ज्ञान न होगा तो अकल्याण के सिवा हाथ क्या आएगा? इसीलिए तो मोक्ष को जानने के लिए और उसका उपयोग करने के लिए हम कौन हैं? हमें क्या करना चाहिए? हमारा कल्याण किस प्रकार से हो सकता है? इन सब बातों को सत्पुरुषों से सच्छास्त्रों से समझना होगा और उस पर आचरण करना होगा तथा पूर्ण रूप से उसका प्रचार भी करना होगा। इन बातों का जिनमें समावेश हो वे सब मोक्षशास्त्र हैं। तब यह ठीक ही है कि—

इच्छन्ति नित्यमिह सौख्यसुधासमुद्रं
स्वातन्त्र्यमेव पशुपक्ष्यमरादयोऽपि।
तस्माद् बुधैः खलु तदेव समर्थनीयं
नान्यत्किमप्यपरमस्ति हि शिक्षणीयम्॥

(श्री स्वाध्याय संवत् १९९८, वर्ष १, सं. १)

☐

मोक्ष प्राप्ति का मर्म

पूर्व में हमने मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि मोक्ष तथा स्वातंत्र्य पर्याय-मात्र हैं। स्वातंत्र्य के विषय में यदि सम्यक् प्रकार से आलोचन किया जाये तो ज्ञात होगा कि यह शब्द इतना व्यापक और गम्भीर अर्थ का बोधक है कि इस पर जितना भी लिखा जाए उतना थोड़ा ही है। कारण यह सापेक्ष शब्द है। सापेक्ष शब्द अपेक्षा तारतम्य से इतने विस्तृत अर्थों का विस्तार करने लग जाते हैं कि उनका आकलन करना असम्भव-सा प्रतीत होने लग पड़ता है। फिर भी चतुर पुरुष गागर में सागर भर ही देते हैं। यों तो सिन्धु में बिन्दु तथा बिन्दु में सिन्धु भरा रहता ही है।

मोक्ष शब्द का सीधा अर्थ है छूटना। यहां स्वभावतः प्रश्न होता है कि किससे छूटना और किसका छूटना? छूटना बिना बंधे नहीं हो सकता, तथा बन्धन में आने-वाला भी कोई पदार्थ है। इसी प्रकार बन्धन कोई वस्तु है, इन सभी बातों की छानबीन करनी पड़ती है। इस विषय का भली-भांति समालोचन आक्षेपनिरसतापूर्वक जिस ग्रन्थ में हो उसको दार्शनिक ग्रन्थ कहते हैं। कारण उपर्युक्त विषयों का दर्शन करने तथा कराने की चेष्टा उसमें की जाती है।

हमारे भारतवर्ष में जितने प्रकार के दर्शन मिलते हैं उतने दर्शन पृथ्वी की पीठ पर किसी भी अन्य देश में उपलब्ध नहीं होते। इसी कारण अन्य सभी देश आज भी भारत का पारतन्त्र्य की शृङ्खला में जकड़े होने पर भी आध्यात्मिक विषय में तो जगद्-गुरु के सर्वोच्च पद पर आसीन रहना एक स्वर से स्वीकार करते हैं। किन्तु व्यावहारिक मोक्ष की भारत ने जब से उपेक्षा प्रारम्भ की तब से भारत का भाग्यसूर्य पश्चिम सागर में जा पतनोन्मुख हुआ; वह बराबर नीचे ही नीचे डूबने की ओर जा ही रहा है।

पश्चिम गणिका ने भारतसूर्य की कैसी दयनीय दशा आज कर रक्खी है। इसका वर्णन महाकवि माघ के ही शब्दों में सुनिये—

अनुरागवन्तमपि लोचनयो-
र्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं
वियदालयादपरदिग्गणिका ॥

[सूर्य अस्त हो जाने के अनन्तर की परिस्थिति देख कविवर माघ कहते हैं कि पश्चिमदिशारूपी गणिका ने आकाशरूपी घर से सूर्य को निकाल ही दिया। कारण उसका वसु (किरण समूह) गणिका ने पहले ही छीन लिया था। यद्यपि सूर्य अपने वसु को खो देने पर भी अनुराग (लाली) रखता है, आंख में उसका शरीर उस समय सन्ताप न देकर सुख ही देता है; तथापि पश्चिम दिशा रूपी गणिका इतने में से किसी एक बात की भी अपेक्षा नहीं रखती, उसे तो केवल मात्र वसु चाहिए। जिस प्रकार किसी आर्य पुरुष को उसका वसु (रत्न धन) हड़प जाने के अनन्तर अपरदिग् गणिका (अनार्य मार्ग पर चलने वाली वेश्या) उसे घर से निकाल ही देती है। वह इस बात की अपेक्षा कभी नहीं रखती कि वह पुरुष वसु (धन) खोने पर भी हृदय में प्रेम रखता है आंखों में भी उसके प्रेम की लाली है, शरीर भी उसका सन्ताप को दूर कर सुख देने वाला सुन्दर है। उसे तो केवल मात्र धन की ही अपेक्षा रहती है। किन्तु पश्चिम दिशारूपी गणिका सूर्य को वसु खोने के बाद आकाशरूपी घर से निकाल ही देती है, बांध नहीं रखती। अनार्य मार्ग पर चलने वाली वेश्या आर्य पुरुष को उसका वसु हड़पने के अनन्तर घर से निकाल ही देती है; उसका स्वातन्त्र्य अपहरण नहीं करती। परन्तु भारतसूर्य की कितनी बड़ी दुर्दशा है। इसको तो आकाश के समान सम्पूर्ण राष्ट्रों के बीच में से स्वातन्त्र्य से वंचित कर पारतन्त्र्य की शृङ्खलाओं से अपरदिग्गणिका ने जकड़ ही रक्खा है। भारत का वसु (धन रत्नादि अनन्त सम्पत्ति) अपहरण करने पर भी इसे तृप्ति नहीं। भारत रवि अपेत वसु होने पर भी अनुराग वाला है, इसका दृश्य भी अत्यन्त सुन्दर है, यह प्रत्येक प्रकार के दुःख सन्तापों को दूर करता हुआ नानाविध सुख प्रदान करने की इच्छा भी रखता है। किन्तु अपर दिग्गणिका को इनमें से किसी एक बात की भी अपेक्षा रखने की इच्छा या आवश्यकता भासित नहीं है। कारण उसे तो भारत रवि को सर्वदा अस्तङ्गत रखना ही अभीष्ट है।]

किसी समय सगौरव—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

[इस देश में (भारत में) उत्पन्न हुए ब्राह्मण से पृथ्वी में रहने वाले सम्पूर्ण मनुष्य अपनी अपनी सभ्यता का पाठ सीखें] ऐसा कहने का अधिकार भी आज उससे छीना जा रहा है। नहीं नहीं बहुत अंशों में छीन लिया गया है। व्यापार उसके पास नहीं, शस्त्र वह छू भी नहीं सकता, नियम बनाने का नाम स्वप्न में भी लेना गुरुतर अपराध माना जाता है, किसी विद्या अथवा कला का जीर्णोद्धार करना कारालयका आवाहन हो सकता है। ऐसी आज की परिस्थिति में भूतकाल की सुख स्वप्नों की स्मृति मात्र से सन्तुष्ट होकर कोरी आध्यात्मिक मोक्ष-चर्चा मात्र से मोक्षप्राप्ति कहां हो सकती है? वास्तव में देखा जाए तो बाह्य संसार की व्यवस्था जो

राष्ट्र भली भांति नहीं कर सकते वे आध्यात्मिक बातों में भी पतित होने लगते हैं। इसीलिये प्रातः स्मरणीय गोब्राह्मणप्रतिपालक क्षत्रपति शिवाजी महाराज के सद्गुरु भारतीय-आर्य नीति के कर्णधार पुण्यश्लोक समर्थ श्रीरामदास स्वामी अपने ग्रन्थों में उपदेश देते हैं—"प्रपञ्च को साधकर परमार्थ का साधन करो"। प्रपञ्च का साधन करने में भी जो लोग आलस्य करते हैं या प्रमाद करते हैं वे परमार्थ का साधन कैसे कर सकेंगे ? सम्मान्य पुरुष तो कहते हैं—

"या लोकद्वयसाधिनि सुचतुरा सा
चातुरी चातुरी।"

पुरुष शिवभाव को भुलाकर जीवभाव में आबद्ध हुआ इसका कोई कारण तो अवश्य होना चाहिये। अन्तस्तल प्रविष्ट होकर विचार करने से ज्ञात होता है कि इसका कारण पूर्ण स्वातंत्र्य है किन्तु जीवभाव में आबद्ध होने पर मोक्ष की इच्छा भी स्वाभाविक ही है तथा मुमुक्षु को मुक्त होने के लिए उपाय ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है ? जिसकी प्राप्ति के लिए जो विधि विधिरहस्यज्ञों ने निश्चित किये हैं उनके प्रतिकूल हो जाने पर साधन सामग्री कितनी ही विपुल हो वह सब वृथा जाती है। वर्तमान में भारत की भी ऐसी ही दशा है। माघ कवि ने इसका वर्णन कितनी सुन्दरता से किया है देखिये—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ
विफलत्वमेति बहुसाधनता ।।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभू-
न्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ।।

[पाठकवृन्द ! यह सायङ्काल का वर्णन है। सूर्य डूब रहा है, कवि कहता है कि सूर्य जब पश्चिम सागर में गिरने ही लगा तब उसके सहस्रों कर (किरण) होने पर भी उनमें से एक भी काम न आया—जिसके आश्रय से वह ऊपर उठ आता। कारण उसका प्रारब्ध उल्टा हो गया था, या ऊपर उठने के विधान में उसने प्रतिकूलता की थी। जब विधान में प्रमाद हो या उल्टापन हो तथा प्रारब्ध भी साथ न दे तो साधन सामग्री चाहे कितनी ही विपुल क्यों न हो वह सब वृथा हो जाती है।]

भारत सूर्य की भी आज वही दुर्दशा हो रही है। भारत ने कोरी आध्यात्मिक मोक्ष-चर्चा के पीछे पड़कर व्यावहारिक मोक्ष की उपेक्षा की। पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्ति में व्यावहारिक स्वातन्त्र्य को भुला देना बड़ा भारी प्रमाद है; इसी कारण भारत के पास मोक्ष (स्वातंत्र्य) प्राप्ति की अनन्त साधन सामग्री होने पर भी विधि (विधान) में उलट फेर हो जाने से प्रारब्ध भी साथ नहीं दे सकता। तथा अविधि (विधि की प्रतिकूलता) के कारण ही भारत स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं कर रहा है। भारत के पास साधन सामग्री में किस बात की कमी है ? उसके पास जन सम्पत्ति बहुत है, लोग शूरवीर भी हैं; कृषि सर्वोत्तम है; सुवर्णादि धातुओं की खानें भी पर्याप्त हैं। इतना सब होने पर भी विधि की प्रतिकूलता सब बातों पर पानी फेर रही है और सब वृथा सा हुआ जा रहा है। पारमार्थिक मोक्ष (स्वातन्त्र्य) व्यावहारिक मोक्ष पर अत्यधिक अवलम्बित है। बाह्य दृष्टि में जो राष्ट्र बद्ध रहते हैं वे राष्ट्र अपने यहां के राष्ट्रियों को पारमार्थिक मोक्ष कभी भी प्राप्त नहीं करने देते। इसके कारणों पर श्री राष्ट्रालोक के "श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्य" में विस्तृत रूप से लिखा गया है। पारमार्थिक मोक्ष के सम्बन्ध में "श्रीआत्मविलास" और उसकी व्याख्या में विस्तृत रूप से लिखा गया है, अस्तु।

प्रकार से जीवित रखने वाली वे ही हैं। एवं च वाङ्मय ही संसार को जीवित रखने वाली शक्ति है। अतः बिना वाङ्मय का परिज्ञान तथा परिशीलन हुए ज्योतिर्मय भव का ज्ञान ही नहीं हो सकता। इसी बात को सोचकर योगीश्वर महाविद्वान् भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में कहा है कि—

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधि-
गच्छति ।

अब इस बात को कहने की आवश्यता नहीं रहती कि वाङ्मय ज्ञान की कितनी अधिक आवश्यकता है। संसार में क्रियाशक्ति अत्यन्त स्थूल रूप से विहार करती दिखाई देती है। किन्तु क्रियाशक्ति का रहस्य ज्ञान शक्ति के साक्षात्कार के बिना ज्ञात नहीं हो सकता। कारण क्रियाशक्ति का उद्भवस्नथ वा समाप्तिस्थान ज्ञानशक्ति ही है। अतः मोक्षप्राप्ति की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिये कि पहले ज्ञानशक्ति की आराधना करे। ज्ञानशक्ति की आराधना का नाम ही स्वाध्याय है। मोक्ष शब्द का अर्थ बन्धनों से छूटना है यह सर्ववादिसम्मत ही है। ज्ञान से अज्ञान निवृत हो जाता है तथा अज्ञान निवृत होने से अपने आप मोक्षप्राप्त हो जाता है। इसी कारण मुक्तिप्राप्ति का उपाय महर्षियों ने "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" यह कहा है। ज्ञान के सिवा मुक्तिप्राप्ति का कोई उपाय नहीं है। आत्मविलास में भी लिखा है कि—

जीवभावे दृढ़े यत्नो दृढ़ःकार्य्यो
मुमुक्षुभिः ।

विज्ञानाय स्वरूपस्य नोपायोऽस्ति
ततः परम् ॥

मैं और मेरा क्या है इसकी यावत्पर्यन्त भलि-भाँति अनुभूति न हो तावत्पर्यन्त मोक्षलाभ की सम्भावना आकाश-कुसुम मात्र है। उपनिषदों में ठीक ही लिखा है कि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" उसी को जानकर अमृतरूपता को पाता है। इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग मोक्षप्राप्ति का नहीं है। उन-उन तीर्थ व्रत उपवास आदि-आदि अनुष्ठान के फल श्रुतियों में भारतीय महर्षियों ने स्थान-स्थान पर जो लिखा है कि "मृतो मोक्षमवाप्नुयात्" उसका तात्पर्य भी यही है कि किसी भी बात में पूर्ण पारङ्गतता प्राप्त किये बिना मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। क्रियाशक्ति के आश्रित जन जब उसकी आराधना सम्यक् करते-करते नश्वर शरीर को छोड़ देते हैं। तब ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होने के कारण वह उसमें मुक्त अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता है। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति में ज्ञान का अंश अत्यधिक सहायक है। हां, दृष्टिकोण के भेद से मोक्ष भी कई प्रकार का हो सकता है। इसी लिए भारतीय ग्रन्थों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, कैवल्य प्रभृति मोक्ष के अनेक भेद वर्णित हैं। गम्भीर-दृष्टि से विचार करने वाले विद्वानों से ये बातें छिपी नहीं हैं। "काश्यां मरणोमुक्तिः" इसका तात्पर्य भी यही है। कारण काशी उस स्थली का नाम है, जहां ज्ञानोदय हो। वहां अज्ञान की मृत्यु अवश्यम्भावी ही है। अज्ञान के हट जाने से ज्ञान स्वयं प्रकाशित होने से चमकने लगता है। इसी बात को आचार्य अभिनवगुप्त यों कहते हैं—

अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे
मलं तत् स्मृतं ।

पूर्णज्ञान कलोदये तदखिलं
निर्मूलतां गच्छति ।।
ध्वस्ताऽशेष मलात्मसंविदुदये
मोक्षश्च ....''

बन्धन का कारण अज्ञान है। शास्त्र में उसको मल कहा है। पूर्ण ज्ञान की कला (चतुराई) के उदय होने पर वह सम्पूर्ण अज्ञान निर्मूल हो जाता है। अनन्तर अज्ञानों को नाश कर आत्मज्ञान के उदय होने पर मोक्ष-लाभ हो जाता है। सारे लेख का सारांश यही है कि अपने आपका पूर्ण ज्ञान हुए बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। चाहे वह पारमार्थिक हो अथवा व्यावहारिक। अतः परतन्त्र को स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए तथा स्वातंत्र्य अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये अपने आपमें स्वाध्याय जैसा दूसरा साधन संसार में कोई नहीं।

(श्रीस्वाध्याय सं. १९९९ वर्ष १ सं. ३)

□

इतिहास

ले.—श्री अमृतवाग्भवाचार्य

इतिहास नाम सुनते ही एक प्रकार की उत्सुकता हृदय में भर जाती है साथ ही उसकी पूर्ति की उत्कंठा भी। यह उत्कंठा स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं? किसी भी वस्तु के सम्मुख आने पर उसके इतिहास की जानकारी के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। इतिहास ज्ञान की पूर्ति के बिना चित्त में शांति नहीं होती। सम्मुख होने के क्षरण से पहले जितना भी समय हो चुका है उसकी वास्तविक घटना का नाम ही इतिहास है। प्रत्येक वस्तु का इतिहास तो होता ही है क्योंकि वह अनिवार्य है। इतिहास ज्ञान से भविष्य का निर्माण करने में यथेष्ट सहायता मिलती है। स्वाध्याय के बिना इतिहास ज्ञान नहीं हो सकता। जिस राष्ट्र में जितना अधिक इतिहास का स्वाध्याय होगा उस राष्ट्र को उतना ही अधिक उन्नत होने के उपायों का ज्ञान हो सकता है। उन्नति की इच्छा सभी रखते हैं। इतिहास का अनध्ययन राष्ट्रों के विनाश का मूल कारण है। वस्तुमात्र अनुकरणशील है। अनुकरण यदि अविवेकपूर्ण होगा तो दुःख तथा अवनति के अतिरिक्त क्या प्राप्त हो सकता है? अवनति को कोई भी उपादेय नहीं समझता। किन्तु इतिहास ज्ञान के बिना हिताहित का ज्ञान नहीं होगा। अनुकरण करते समय अनुकरणीय वस्तु के साङ्गोपाङ्ग इतिहास ज्ञान की आवश्यकता अत्यन्त वांछनीय है। जिससे अपने पुरुषार्थों की सम्पूर्ति हो सके। पुरुषार्थों की सम्पूर्ति पुरुष की स्वाभाविक परिस्थिति है। स्वाभाविक परिस्थिति अपरिवर्तनीय है। पुरुष जो भी चाहता है सब पुरुषार्थ है। सम्पूर्ण पुरुषार्थ चार भागों में आ जाते हैं, वे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से भारतीय शास्त्रों में वर्णित हैं। इन चारों के आमूलचूल ज्ञान के बिना व्यवस्था नहीं हो सकती, इनका आमूलचूल ज्ञान इतिहास में निहित है। इसी कारण भारतीय वाङ्मय में इतिहास को पांचवां वेद कहा है। "इतिहासः पंचमो वेदः"। इतिहास ज्ञान के बिना अनुकरण के लिए किसी आदर्श की स्थापना नहीं हो सकती। जिनका इतिहास जितना उज्ज्वल होगा वे उतने ही उज्ज्वल हो सकते हैं। इससे पाठक समझ गये होंगे कि इतिहास के अन्वेषण, अध्ययन, लेखन, प्रचारण की कितनी आवश्यकता है? समस्त संसार में भारतीय इतिहास के जोड़ का समुज्ज्वल इतिहास मिलना कठिन है। किन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि आज भारतीय इतिहास की कितनी दुर्दशा हो रही है। दासता की बेड़ी में जकड़ा भारत अपनी इस दुर्दशा को अपनी खुली आंखों देखता हुआ भी कुछ भी करने में असमर्थ हो रहा है। हां, कुछ-कुछ आशा तब होने लगती है जब कि इतिहासान्वेषण के प्रयत्न को देखने लगते हैं।

प्रो० यदुनाथ सरकार, इतिहासाचार्य वैं०का० राजवाडे, म०म०रा०ब० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, शं० बा० दीक्षित, रा० ब० चि० वि० वैद्य, देसाई, पं० जयचन्द विद्यालंकार आदि महानुभावों के प्रयत्न इस दिशा में श्लाघनीय हैं। किन्तु अतिविस्तृत भारतीय इतिहास में इससे क्या हो सकता है। प्रांत-प्रांत में मंडल-मंडल में गांव-गाँव में इसके अध्ययन की आवश्यकता है। राष्ट्र में वर्तमान प्रत्येक वस्तु के इतिहास के अन्वेषण की आवश्यकता है, साथ ही उसके प्रचारण की भी। सुनते हैं कि महाराष्ट्रों ने १५००० पृष्ठ इतिहास लिखा है, किन्तु भारतीय विशाल वैभव की दृष्टि में यह सिन्धु में बिन्दु के समान भी नहीं।

इतिहास लिखते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी बात अधिक या कम न हो। झूठ के लिए इतिहास में कोई स्थान नहीं। इस लाग लपेट अथवा लोभ लालच से काम बिगड़ जाने की सम्भावना रहती है। इसी कारण इतिहास-लेखन में बहुत ही सावधानी रखनी पड़ती है। एक दो उदाहरण हम बड़े दुःख के साथ देते हैं।

(1) पर्याप्त समय पूर्व "माधुरी" के किसी अङ्क में एक एम. ए. महाशय ने इतिहास की ऐसी टांग तोड़ी थी जो कि बहुत ही अखरती और लेखक के इतिहास ज्ञान की हँसी भी उड़ाती है। मिश्र बन्धुओं के विषय में उनके गुणानुवाद गाते हुए आपने लिखा है कि "मिश्र बन्धुओं के पूर्वज एक चिन्तामणि मिश्र थे, जिन्होंने भारत के अत्यन्त प्रसिद्ध मुहूर्त चिन्तामणि ग्रन्थ की रचना की थी" पाठक वृन्द! देखा आपने एम. ए. महाशय के इतिहास-ज्ञान का उदाहरण। साधारण से साधारण ज्योतिषी भी जानता है कि मुहूर्त चिन्तामणि रामदैवज्ञकी बनाई हुई है। सैकड़ों बार जो पुस्तक छप चुकी हो उसको एक बार उठाकर तो एम. ए. महाशय को देख लेना चाहिए था। क्या इसी का नाम इतिहासान्वेषण है? अस्तु।

(2) स्व० म० म० पं० शिवदत्तजी ने भट्टोजी दीक्षित को केवल मात्र लक्ष्मीधर का पुत्र होने के कारण बारहवीं शताब्दी में धकेल दिया है और इसी प्रकार महाराष्ट्र देश के सारस्वत ब्राह्मण तथा किसी मन्दिर का पुजारी लिख मारा है। ऐसी मनघड़न्त बातों को लिखने से क्या इतिहास की हत्या नहीं होगी? विक्रम सं० १६४५ में एक व्यवस्था पत्र पर शेष कृष्ण के हस्ताक्षर मिलते हैं और जब कि राजा बीरबल व राजा टोडरमल आदि-आदि कई बड़े-बड़े राजा महाराजाओं के गुरु काशी के तात्कालिक सबसे बड़े विद्वान् शेष कृष्ण का स्थिति-काल सं० १६५० के बाद भी मिलता है, तो उनके प्रधान शिष्य भट्टोजी दीक्षित बारहवीं शताब्दी में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? ऐसे ही लाखों उदाहरण मिल सकते हैं। इतिहास में कृत्रिमता महान् पाप समझा जाता है, किन्तु इस पाप के करने वालों को दण्ड कौन दे? अस्तु। □

(श्री स्वाध्याय संवत् १९९८, वर्ष १ सं०१)

□

शक्ति–पूजा

ले०–श्री अमृतवाग्भवाचार्य

स्वातन्त्र्याऽऽपिः साधनामन्तरा नो
स्वातन्त्र्याऽऽप्तौ साधना शक्तिपूजा ।
कल्याणानि प्राणिनां सैव सूते
तस्मात् कार्या सा सदा साऽनुभावैः ॥

साधन के बिना स्वातन्त्र्य की प्राप्ति नहीं होती, स्वातन्त्र्य की प्राप्ति में शक्ति पूजा ही साधना है प्राणियों के प्रत्येक प्रकार के कल्याण को उत्पन्न करना यह शक्तिपूजा के ही अधिकार में है इसलिए सत्पुरुषों के निश्चित् किये हुए इस सिद्धान्त को समझने वाले महापुरुषों को चाहिए कि वे सर्वदा शक्ति की पूजा करें तभी वे समस्त संसार का कल्याण कर सकेंगे ।

शक्तिपूजा स्वाभाविक है, इतनी स्वाभाविक कि जितनी वस्तु में वस्तुत्व की स्थिति घट शब्द वैखरी वाणी से उच्चारित होने से पहले ही घट वस्तु का प्रतिभास होने लग जाता है । परापश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी चारों प्रकार की वाणी वस्तु की अभिव्यञ्जना में निरन्तर लगी रहती है । शक्ति सर्वात्म रूप है । इसका सम्बोधन वाणी को भी है । इसीलिए उसकी अभिव्यंजना निरन्तर करती हुई वाणी कभी थकती नहीं । उसे शक्तिपूजा अत्यन्त प्रिय है । जो जितना ही सन्निकट होकर शक्ति की पूजा करेगा शक्ति भी उसका उतना ही अधिक अभ्युदय करती है । आत्मभाव के साक्षात्कार में इसी कारण तारतम्य हो जाता है ।

मूलवस्तु एक होने पर भी अनाद्यनन्त महिमा होने के कारण वह अपने आपका अनन्त प्रकार से साक्षात्कार करती रहती है । उसे पूर्ण रूप से विज्ञात है कि मैं सर्वशक्ति स्वरूप हूँ तिरस्कार तथा पुरस्कार दोनों ही भावों से वह अपने आपका पूजन करती रहती है । जीवानन्दनाथ तथा शिवानन्दनाथ नाम से अभिहित अपने स्वरूपों को वह समान रूप से प्यार करती है । उन्हें परखती है तथा आत्मसात करती है । उसे आत्मपूजा से अत्यन्त प्रेम है उसका सारा ही जीवन आत्मपूजामय है । वह प्रत्येक प्रकार के अनन्तानन्त स्वरूपों में विराजती है । परन्तु उसे आत्मविस्मृति स्पर्श भी नहीं करती । कदाचित वह यदि स्पर्श कर ही ले तो वह भी आत्मस्वरूप हो कर पूर्ण आत्मविज्ञ हो रहती है । वैखरी का आधिपत्य जाग्रज्जगत् के मध्यमा का स्वाप्नजगत् में पश्यन्ती का सौषुप्त जगत् में तथा पस का तुर्या में सीमित है । यों तो आत्मस्वरूपातिरिक्त शंका ही नहीं होती इसलिये सब कुछ आत्मस्वरूप ही है । पुनरपि आत्म क्रीडा में कुछ रूप शरीर तथा कुछ शरीरी स्थापित किये गये हैं । उनमें शरीर बाह्य तथा शरीरी आन्तर सम्बोधित होते रहते हैं । इसी कारण शरीरी आत्मा के सन्निकट है तथा शरीर आत्मा से उनके अपेक्षा कहीं दूर । शरीर की आराधना करने वाले बहिर्मुख होने के कारण शक्ति के बाहरी रूपों को ही

सर्वस्व समझते हैं। वे शक्तिरूप अधिक स्थिर न होने से अपने उपासकों को स्थिर शान्ति भी नहीं दे सकते। शक्ति के शारीरी रूप पूर्वापेक्षा कुछ स्थिर होने से कुछ स्थिर शान्ति अपने उपासकों को दे सकते हैं। शरीरी रूपों के आराधकगण पहले से कुछ अन्तरमुख अधिक होते हैं। इसीलिये उन्हें अधिक शान्ति प्राप्त हो सकती है। दैवी सम्पत्तिशाली शान्तिप्रिय होते हैं एवं आसुरी सम्पत्तिवाले अशान्तिकारक होते हैं। करते तो दोनों ही शत्तिपूजा ही हैं, केवल पूजा की विधि में एक दूसरे से भेदभाव रखते हैं। इसी भेद ने किसी को साधु तो किसी को खल बनाया है। शक्तिपूजा से शक्ति का अनुग्रह होता है। यदि शक्तिपूजक साधु आर्य होगा तो सबको सुखी करेगा एवं स्वयं भी सुखी ही रहेगा। खल अथवा अनार्य शक्ति पूजक सबको दुखी करता रहता है, अतएव अन्त में स्वयं भी दुखी होगा। खलों की शक्ति पूजा लोककल्याण के स्थान में लोकपीड़न ही करती है। नीतिकारों ने कितना सुन्दर कहा है—

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीड़नाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

खल की विद्या विवाद के लिए, धन अभिमान के लिए तथा शक्ति दूसरों को पीड़ित करने के लिए ही उपयुक्त होती है। इसके सर्वथा विपरीत साधु की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति दूसरों का संरक्षण करने के लिए ही उपयुक्त होती है।

शक्तिपूजक शक्तिस्वरूप ही रहते हैं। सृष्टिस्थित प्रलयकारिता शक्तिपूजक का अपना स्वभाव है। विनयशील शक्तिपूजक विजयी तथा समस्त कल्याण कारण होकर सबको स्वतन्त्र करता है तथा अविनयशक्ति अविनयशील शक्तिपूजक नाशकारक होकर सबको परतन्त्र करके अपने को भी परतन्त्र करता हुआ अन्त में अपने को भी नष्ट कर बैठता है। विनयशील को ही आर्य कहना चाहिए। उससे अन्य सभी अनार्य हैं। श्री राष्ट्रालोक में आर्यों का लक्षण यों किया है—

निग्रहानुग्रहाभ्यां ये निर्लोभाः समदर्शितः
शमुन्नयन्नि संसारं त एवाऽऽर्याः स्मृता वुधैः

ज्ञानवान पुरुषों की स्मृति में वे ही आर्य हैं जो संसार की सम्यक् उन्नति करते हैं। जिनका लोभ पूर्ण रूप से विनिष्ट हो चुका है। जो समस्त संसार के स्वभाव से पूर्ण परिचित होते हैं अतएव समस्त संसार का यथोचित परिचय कराने में जिन्हें पूर्ण स्वातन्त्र प्राप्त है इसीलिए वे निग्रह (दण्ड) तथा अनुग्रह (दया) दोनों से पूर्ण होते हैं और दोनों प्रकार की शक्तियों का सदुपयोग संसार की समुन्नति के लिए ही करते हैं।

आर्यों की शक्ति पूजा ही सबको सुख दे सकती है। अतएव आर्यों को चाहिए कि वे निरंतर आत्मशक्ति की पूजा करें और उसमें सबको सुखी करें। इससे सब कुछ प्राप्त हो सकता है। इन्द्रादि देवगण को शक्तिपूजा करते हुए उससे क्या-क्या प्राप्त होता है- इस विषय में उन्हीं का कहना देखिये क्या है:—

ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां।
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः।
धन्यास्त एव विभृतात्मज भृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदां भवती प्रसन्ना॥

[हे जगदम्ब ! आप जिन पर प्रसन्न होती हैं उन्हें किस बात की अपूर्णता रह सकती है ? आपकी प्रसन्नता उनका प्रत्येक प्रकार का अभ्युदय करती है, जनपदों में वे सम्मानित होते हैं, नाना प्रकार के धन उन्हें प्राप्त होते हैं, सुन्दर अनेक प्रकार का यशो लाभ उन्हें छोड़ कर किसे हो सकता है ? धर्म, अर्थ तथा काम इस त्रिवर्ग के साधन और फलों के उपभोग में कभी उन्हें बाधा का सामुख्य नहीं करना पड़ता। उनके निर्मित शासन के नियमों को तोड़ना यह साधारण पुरुषों के हाथ की बात नहीं। वे ही सब प्रकार से संसार में धन्य कहे जा सकते हैं, उनके घर में पुत्र, भृत्य तथा दारा की समृद्धि निरन्तर बनी रहती है]

वर्तमान संसार की परिस्थिति देख कर किस आर्य पुरुष का हृदय प्रस्विन्न नहीं होगा ? स्वातंत्र्य के बिना संसार सुखी नहीं हो सकेगा तथा स्वातन्त्र्य बिना विधियुक्त आत्मशक्ति के पूजन के प्राप्त नहीं हो सकता। प्रत्येक राष्ट्र में यावत्पर्यन्त स्वातन्त्र्य न प्रतिष्ठित होगा तावत्पर्यन्त संसार में शान्ति प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठा के लिये प्रत्येक राष्ट्र की आर्य विधया शक्ति पूजा आवश्य करनी होगी, अनार्य विधया शक्ति पूजा करने वाले संसार में अशान्ति को ही उत्पन्न करते रहते हैं। इस बात को कहने की अधिक आवश्यकता ही नहीं। उनकी शक्ति पूजा उनके बहिर्मुख होने के कारण राज्यवाद, संघवाद तथा व्यक्तिवाद जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक घोर से घोर अशान्तिजनक वातावरण उत्पन्न करती रहती है, जिनसे समस्त संसार को विनाश का ग्रास होना ही पड़ता है।

अतः प्रत्येक राष्ट्र को चाहिये कि वह राष्ट्रस्वातन्त्र्य के योगक्षेम के लिये विधियुक्त शक्तिपूजा करे तथा उसका सदुपयोग ही करे अपने राष्ट्र-स्वातन्त्र्य की योगक्षेम-चिन्ता पहले किये बिना दूसरों की चिन्ता अथवा दूसरों की सहायता आत्मविवञ्चनामात्र होगा।

परवञ्चक की अपेक्षया आत्मवञ्जक महान अपराधी होता है। ऐसा त्रिकालदर्शी महर्षियों का सिद्धान्त है, उनका कथन है कि आत्महत्या ब्रह्महत्या से भी बढ़कर महान पाप है। पापी को सुख नहीं प्राप्त हो सकता परतन्त्र को पुण्य की प्राप्ति कहाँ पुण्यवान ही सुखी होने का अधिकारी है। स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिए जो शक्ति पूजा की जाती है। सर्वाधिक पुण्यजनकता उसी शक्तिपूजा को अधिकार की बात है। सुख की प्राप्ति स्वातन्त्र्य के बिना कभी नहीं हो सकती। इस विषय में आत्मविलास में कितना सुन्दर लिखा है देखिये—

सुखाप्तिवाञ्छा हृदयेवर्तते यदि यत्पताम् ।
पूर्णस्वतन्त्रता प्राप्त्यै सैव पूर्ण सुखप्रदां ।।

सुख प्राप्त करने की इच्छा यदि हृदय में है तो पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए यत्न करिये पूर्ण स्वतन्त्रता ही पूर्ण सुख दे सकती है।

स्वातन्त्र्य प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय श्री राष्ट्रलोक में यों वर्णित हुआ है।

स्वातन्त्र्यं भिक्षया नैव कदाचि देवि लभ्यते ।
योगक्षेमसमर्थे का राष्ट्रशक्तिः प्रभाविनी ।।

भीख मांग कर किसी काल में भी स्वातन्त्र्य की प्राप्ति नहीं हो सकती प्रभाविनी राष्ट्रशक्ति ही योग (अप्राप्त वस्तु का प्राप्त करना) तथा क्षेम (प्राप्त वस्तु का संरक्षण) में सर्वोपरि सामर्थ्य रखती है।

भारत की स्वतन्त्रता के लिए विधियुक्त आत्मशक्ति की पूजा से उत्तम और क्या उपाय हो सकता है। अतः प्रत्येक भारतीय शक्तिपूजा में संलग्न हो यही आत्मशक्ति के आगे नम्रनिवेदन है। शिवमस्तु। □

(श्री स्वाध्याय, संवत् २००० वर्ष ३ सं. १)

शान्तिरस्तु

ले०—अमृतवाग्भवाचार्य

कहीं भी जाइये, किसी से भी मिलिये, प्रयत्न आपका सदैव शान्ति के लिए ही होगा। यह बात सम्मुख सूर्य्य के समान ही सच है कि आप प्रत्येक उद्योग शान्ति के लिए ही करते हैं। जागते हैं शान्ति के लिए, सोते हैं शान्ति के लिए। खाना-पीना, उठना-बैठना, जाना-आना, बोलना-चालना, सभी क्रियाएँ शान्ति के लिए ही की जाती हैं। मरना तक शान्ति के लिए ही हुआ करता है। अधिक क्या कहें यदि बुद्धि के परलेपार भी जाकर देखा जाए तो भी यही ज्ञात होगा कि प्रत्येक व्यापार शान्ति के लिए ही हो रहा है। मरते हैं शान्ति के लिए, जीते हैं शान्ति के लिए। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तथा तुरीया यह प्रत्येक दशा शान्ति के लिए ही अभीष्ट है, किन्तु शान्ति-प्राप्ति किसी को हुई या नहीं इसका यदि सूक्ष्म अन्वेषण करने लग जाएँ तो ज्ञात होगा कि छोटे से बड़े तक सभी प्राणी अशान्ति के कराल कर से ग्रस्त हैं। तथापि चाहते हैं शान्ति। प्राप्तव्य वस्तु के अनुकूल उपाय के बिना वह प्राप्त नहीं हो सकती। अभीष्ट वस्तु प्राप्त होने पर शान्ति हो जाती है। किंतु अभीष्ट वस्तुओं का सम्भार इतना विशाल है कि समुद्र के समान उसका पार ही नहीं दीखता। अतः समस्त वस्तुएँ यावत् पर्यन्त प्राप्त न हो जाएँ, तावत् पर्यन्त शाश्वत् शान्ति नहीं हो सकती। इसी कारण अनन्त जन्म-मरण की शृङ्खला में प्राणिमात्र आबद्ध हो रहा है। प्रकाश को मुट्ठी में करने के लिए यदि उसकी किरणों को पकड़ने लग जाएँ, तो अनन्त जन्मों में भी सम्पूर्ण प्रकाश मुट्ठी में न आएगा, कारण यह उपाय अवैध है। प्रकाश का केन्द्र—उद्भव स्थान—ही यदि मुट्ठी में आजाए, तो उसकी किरणें अपने आप मुट्ठी में आजाएँगी। यह उपाय वैध है। हाँ, यदि किसी को किरणों के पकड़ने में ही आनन्द प्राप्त होता हो तो वह किरणें पकड़ता जाए। उसके लिए हमारी ओर से निषेध नहीं। एक सहस्र कोस की यात्रा करके गन्तव्य स्थान को यदि प्राप्त करना है तथा वह भी शीघ्र से शीघ्र, तो बीच में विश्राम करने से यह काम कैसे बनेगा ? अथवा शीघ्र से शीघ्र पहुंचाने वाले यान का त्याग करके यह कार्य कैसे सिद्ध होगा ? वहां तो वैध उपाय का ही अवलम्बन करना होगा।

भगवान् श्री वासुदेव अर्जुन से इसीलिए कहते हैं कि हे अर्जुन !

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते ॥

[अरे अर्जुन ! यह जो तू अपनी आंखों से विशाल वस्तुओं का भण्डार देख रहा है

यह सब केवल मेरी अपनी माया है। इसमें अनन्त गुण भरे पड़े हैं। अतएव यह माया किसी को भी अपना पार नहीं पाने देती, इसके गुणों से इस मेरी माया को पार करने वाला प्राणी स्वयं ही बंध जाता है। मैं सबका आत्मरूप हूँ, इसी कारण वह मेरी माया मेरे से अन्य किसी को भी अपने परलीपार नहीं जाने देती, चाहे वह कितना ही बलशाली क्यों न हो? यह भी साधारण नहीं दैवी है। हाँ, यदि आत्माराम मुझ आत्मरूप को ही जो प्राप्त कर लें तब तो वे पुरुष इस मेरी माया को अवश्य पार कर लेते हैं।]

यह है बंध उपाय। किन्तु उपाय का ज्ञान होने पर भी यदि वह कार्यरूप में नहीं लाया जायगा, तो उपेय की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती तथा परतन्त्र पुरुष उपाय भी नहीं कर सकता। व्यवहार में शान्ति राष्ट्र के स्वातन्त्र्य पर ही अवलम्बित है। परतन्त्र राष्ट्र में शान्ति आकाश-कुसुम से अधिक योग्यता नहीं रखती। श्री राष्ट्रालोक में कितना सुन्दर लिखा है, देखिये—

न स्वतन्त्रं स्वराष्ट्रं ये
कर्तुमिच्छन्ति मानवाः।
ततोऽधिका महामूर्खाः सन्ति केऽत्र
भुवस्तले॥

[जो मानव अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र नहीं करना चाहते, संसार में इस पृथ्वी की पीठ पर उन मनुष्यों से बढ़कर महान् मूर्ख कौन हो सकते हैं?]

अतः शान्ति-स्थापना के लिए राष्ट्र को स्वतन्त्र करना होगा। परमार्थतः देखा जाय तो बाह्य प्रत्येक वस्तु की कामना करना अशान्ति की जड़ है यह निश्चित है। यह महामाया बड़े-बड़े ज्ञानी जनों को भी मूढ़ बना देती है। महर्षि मार्कण्डेय कहते हैं—

ज्ञानिनामपि चेतांसि
देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय
महामाया प्रयच्छति॥

[वह महामाया है, अघटित घटना पटीयसी है। वह देवी है—साधारण लोगों की वहाँ पहुँच नहीं। वह भगवती है—कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है। वह बड़े-बड़े ज्ञानियों के चित्तों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और उनको मूढ़ बना देती है। मानो मूढ़ होने के लिए ही उन में चेतना देती है।]

अतः इस महामाया की कृपा के बिना कोई भी प्राणी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए इस महामाया की प्रसन्नता अत्यन्त अपेक्षणीय है। महर्षि मार्कण्डेय कहते हैं—

तया विसृज्यते विश्वं
जगदेतत् चराचरम्।
सैषा प्रसन्ना वरदा
नृणां भवति मुक्तये॥
सा विद्या परमा मुक्ते
र्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च
सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

[यह चराचर सम्पूर्ण जगत्, तथा इस से भी सूक्ष्म सम्पूर्ण विश्व महामाया द्वारा विचित्ररूप से निर्माण किया गया है। वह यह महामाया ही यदि प्रसन्न हो जाए तो नर

मुक्ति-लाभ कर सकते हैं। पारमार्थिक मुक्ति भी इसी की कृपा पर निर्भर है। व्यावहारिक मुक्ति तो इसकी कृपा पर अवलम्बित है ही। प्रत्येक अभीष्ट का प्रदान इसकी प्रसन्नता के हाथ है। व्यावहारिक तथा पारमार्थिक मोक्ष प्राप्ति की हेतुभूत सर्वश्रेष्ठ सनातन विद्या उसी महामाया का स्वरूप है। संसार तथा उससे होने वाले बन्धन का कारण भी वही यह महामाया है। वह बड़े-बड़े ईश्वरों की भी ईश्वर है।]

एवंच कहना न होगा कि शान्ति-प्राप्ति के लिए महामाया की प्रसन्नता की कितनी अधिक अपेक्षा है। मार्कण्डेय महर्षि की महामाया तथा भगवान् वासुदेव को असमच्छब्द प्रतिपाद्य वस्तु एक ही है। अतः शान्ति प्राप्त करने के लिए इस महामाया की प्रत्येक प्रकार से आराधना करनी ही होगी। उसकी प्रसन्नता से सम्पूर्ण अभीष्ट प्राप्त होते हैं; फिर कहीं भटकना नहीं होगा। व्यवहार में शत्रुओं का बिना विनाश किये चुपचाप बैठकर अन्याय सहने का नाम शान्ति नहीं, वह मूर्खता है, नपुंसकता है। श्री राष्ट्रालोक में इस विषय में कितना सुन्दर लिखा है, देखिये—

यया शान्त्या पराधीनं
राष्ट्रं भवति सा न हि।
शान्तिः, किन्तु नितान्तं सा
केवलं क्लीबता मता ॥

[जिस शान्ति से राष्ट्र पराधीन हो जाता है, राष्ट्रों की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, वह शान्ति नहीं है, किन्तु वह बड़ी भारी क्लीबता नपुंसकपन है, यह विद्वानों का निर्णय है।]

जो पुरुष लोक-व्यवहार में शान्ति-लाभ नहीं कर सकते वा करा सकते, पारमार्थिक शान्तिलाभ में वे पुरुष किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं? पारमार्थिक शान्ति के लिए तो बड़ी भारी तपस्या की आवश्यकता है। हां, यह बात सर्वथा युक्त है कि पारमार्थिक शान्ति जिनको प्राप्त हो जाती है वे ही व्यावहारिक शान्ति की वास्तविक व्याख्या तथा स्थापना कर सकते हैं। ऐसे ही उन महापुरुषों का कहना है—

विहाय कामान् यः सर्वान्
पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः
सः शान्तिमधिगच्छति ॥

[जो पुरुष सम्पूर्ण बाह्य वासना तथा आन्तर वासनाओं का सर्वथा त्याग कर देता है, आत्म तृप्त होने के कारण जिसे किसी प्रकार की स्पृहा नहीं होती, बन्धन कारक ममत्व जिस का निवृत्त हो चुका हो, अतएव जिसका दुष्ट अहङ्कार निवृत्त हो विशुद्ध हो चुका है, शान्ति की प्राप्ति का परम प्रेमास्पद वही पुरुष अधिकारी होता है।]

पाठकवृन्द! आत्मवस्तु की प्राप्ति तथा उसके संरक्षण से ही शान्ति रह सकती है। यावत् पर्यन्त संसार में जिसकी अपनी वस्तु उसके अपने ही अधिकार में न होगी तावत् पर्यन्त शान्ति कभी नहीं हो सकती। अतः शान्ति-स्थापना के लिए अपनी-अपनी वस्तु का अपने-अपने पास रहना आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्र के वहां के राष्ट्रियों के ही शासन में रहने से ही व्यवहार में शान्ति होगी। यही शान्ति का वैध उपाय है। शान्तिरस्तु ॥

□

(श्री स्वाध्याय संवत् २०००, वर्ष २, सं० ४)

आचार्यश्री और अद्वैत वेदांत

ले.—डा० बलजिन्नाथ पण्डित

वेदान्त शब्द का मौलिक अर्थ है वेद का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त। उस सिद्धान्त का दिग्दर्शन पहले ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में और वागम्भृणीय सूक्त में हुआ। तदनन्तर उसकी विस्तृत अभिव्यक्ति यजुर्वेद के शतरुद्र प्रकरण में हुई। आगे उसका पूरा और विशेष विकास उपनिषदों में हुआ। इस कारण से उपनिषद्-विद्या ही स्फुट वेदान्तविद्या है। उस विद्या के अनुसार केवल परब्रह्म ही एक-मात्र सत्य तत्त्व है। अन्य जो कुछ भी कहीं बुद्धिगोचर होता है, वह सारे का सारा कल्पित है। जिस रूप में साधारणतया उसे जाना जाता है उसका वह रूप कल्पित है, सादि है और सान्त है तथा सृष्टि-संहार का विषय बनता है। फिर इस नश्वर प्रपञ्च की कलना कैसे हुई? इस प्रश्न के उत्तर में उपनिषद्-विद्या कहती है कि स्वयं परब्रह्म ने इसकी कलना की, इसकी सृष्टि की और वही स्वयं इस सृष्टि को अपने प्रशासन से चलाता है। उसी के प्रशासन के भीतर काम करते हुए और उससे डरते हुए वायु, सूर्य, इन्द्र, अग्नि और यमराज आदि देवता अपना-अपना कर्तव्य निभाते हैं। इस तरह से उपनिषदों की दर्शन-विद्या में उस एकमात्र अद्वैत सत्य तत्त्व को ही सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला और इस सारे प्रपञ्च के प्रशासन को चलाने वाला माना गया है। फिर उपनिषदों के ऋषियों ने यह घोषणा की कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा सारे का सारा प्रपञ्च सब कुछ वस्तुतः परब्रह्म ही है। तो ज्ञानवान् अनुभवी वेदान्तशास्त्रज्ञ समस्त विश्व को परब्रह्म स्व-रूप ही मानते हैं।

फिर उपनिषदों ने यह भी बताया कि उस परब्रह्म का सर्वथा यथार्थ ज्ञान बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता है, मन उसे पूरी तरह और यथार्थतया सोच नहीं सकता है तथा वाणी उसका पूरा वर्णन कर नहीं सकती, क्योंकि जिस चिद्रूप आत्मा से बल पाकर आंख देखती है, मन सोचता है, बुद्धि समझती है, और वाणी बोलती है उस आत्मदेव को आंख नहीं देख सकती, उसे मन नहीं सोच सकता, उसे बुद्धि नहीं समझ सकती और उसे वाणी नहीं बता सकती। तो ज्ञान के ये सभी साधन जो कुछ भी बतलाते हैं वह उस ब्रह्म का पूरी तरह से वास्तविक स्वरूप नहीं है। उसका वास्तविक स्वरूप अज्ञेय है और अवर्णनीय है। तात्पर्य यह है कि उस ब्रह्म का विकल्पात्मक ज्ञान हो ही नहीं सकता है, अपितु, वह आत्म-ब्रह्म स्वयमेव अपने ही चित्प्रकाश से अपना ही निर्विकल्प अपरोक्ष साक्षात्कार करता है।

इस तरह से मूलभूत वेदान्त-विद्या ने ब्रह्म का उपदेश दो दृष्टियों को लेकर के किया। एक दृष्टि है अन्वयात्म दृष्टि जिसे लेकर के यह कहा गया कि जो कुछ भी कहीं है वह सब कुछ वस्तुतः पर-ब्रह्म ही है, तात्पर्य

उस बात का यह है कि प्रत्येक वस्तु का वास्तविक स्वरूप वस्तुतः परब्रह्म ही है और उसका जो स्वरूप व्यावहारिक ज्ञान में कहने, सुनने, जानने में आता है वह उसका कल्पित स्वरूप है, वास्तविक और अकल्पित सनातन स्वरूप नहीं है। फिर उपनिषदों ने यह भी स्पष्ट बताया कि वह कल्पनातीत पर-ब्रह्म ही अपनी परमेश्वरता की क्रीड़ा में इन सारे के सारे स्वकला से कलित रूपों की कलना और कल्पितरूपों की कल्पना करके उन सभी के आकारों को स्वयं धारण करके इस सारे प्रपञ्च के रूप में ठहरा हुआ है। अतः इस विश्व को ब्रह्मरूप में देखना ही सच्चा ज्ञान है।

उपनिषदों के आधार पर अनेकों दर्शनकारों ने अपनी-अपनी दर्शन-विद्याओं को ठहराया। पाञ्चरात्रों और भागवतों ने आगमों का आश्रय लेकर परब्रह्म के विश्वोत्तीर्ण शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप की अपेक्षा उसकी परमेश्वरतामयी लीला को ही प्रधानता दी। आगे अर्वाचीन वैष्णवों ने तो उपनिषदों के ही आश्रय पर अपनी उस दर्शन-विद्या को ठहराते हुए उसे ही वास्तविक वेदान्त-विद्या बताया। उन्होंने परब्रह्म के विश्वोत्तीर्ण शुद्ध चिन्मय स्वरूप की ओर ज़रा भर भी ध्यान न देते हुए और आंशिक या पूरे भेदभाव को स्वीकार करते हुए परब्रह्म को दिव्य शरीरधारी भगवान् के रूप में ही सिद्ध किया और उसी दृष्टि से उपनिषदों की व्याख्या करते हुए विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और विशुद्धाद्वैत सिद्धान्तों को ठहराया और उन्हीं को वास्तविक वेदान्त सिद्धान्त माना।

इन के विपरीत आ० गौडपाद और आ० शङ्कर ने अद्वैतवाद का उपदेश करते हुए और परब्रह्म में परमेश्वरता को न मानते हुए उसके एकमात्र विश्वोत्तीर्ण और अवाङ्-मनस-गोचर स्वरूप को ही ठहराया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि वस्तुतः परब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य तत्त्व है, शेष सब कुछ अर्थात् जगत्, जीव और ईश्वर, तथा उनके शरीर, साधन आदि सब के सब पदार्थ स्वप्न संसार की तरह केवल आभासित होते हैं, वस्तुतः हैं ही नहीं। यहां तक तो उन्होंने काफी हद तक औपनिषद दृष्टिकोण को अपनाया। परन्तु जीव, जगत् और ईश्वर के इस कल्पित आभास का कारण उन्होंने परब्रह्म की स्वभावभूत परमेश्वरता की लीला को न मानते हुए ऐसी कल्पना की कि परब्रह्म से अतिरिक्त एक अविद्या / माया नाम की भी कोई वस्तु है जिसकी सत्ता केवल प्रतिभसिक सत्ता है। वही तत्त्व जब ब्रह्म के समीप ठहर जाता है, तो उसकी उपाधि बनकर उस ब्रह्म को ही एक ओर से जीव के रूप में और दूसरी ओर से ईश्वर के रूप में ठहराता है। इस तरह से कल्पना-शक्ति के द्वारा ठहराई हुई माया के संसर्ग से ही ब्रह्म ईश्वर के रूप में प्रकट होता हुआ इस माया में से ही सारे जगत को उत्पन्न करता है और उसी में इसे समय आने पर विलीन भी करता रहता है। शङ्कराचार्य के इस मायावाद की परीक्षा सतर्क से की जाए तो यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः माया ही ईश्वरता भी है और जीवता भी है। सृष्टि-संहार आदि के सामर्थ्य भी माया के ही सामर्थ्य हैं, वे ब्रह्म के ऊपर अज्ञान वशात् आरोपित होते रहते हैं। तो वस्तुतः ईश्वरता के सारे सामर्थ्य माया के ही हैं, सारा जगत् माया के भीतर विद्यमान रहता हुआ ही सृष्टि-आदि का विषय बनता रहता है और वह भी माया ही के प्रभाव में आए हुए ईश्वर के हाथ से। इस तरह से ईश्वरता का मूलब्रह्म

में न होकर माया ही के भीतर होता हुआ सिद्ध होता है और सृष्टि-संहार आदि भी उसी के सामर्थ्य से होते रहने वाले प्रतीत होते हैं। फिर उस अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को प्रकाशमान होने के कारण ज्ञानरूप तो माना गया है परन्तु शान्त होने के कारण उसे क्रियाशक्ति से रहित माना गया है। क्रिया-शक्ति तो वहां मायारूपिनी उपाधि से कल्पित ईश्वर में मानी गई है। ब्रह्म को शाङ्करवेदान्त में केवल विद्यारूप ही माना गया है, अविद्या को माया का ही रूप माना गया है। ब्रह्म को वहां सच्चिदानन्द-स्वरूप माना तो गया है परन्तु उसकी आनन्दरूपता क्या है इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होने पाया है। फिर शङ्कर वेदान्त ने विवर्त्तवाद का आश्रय लिया है। विवर्त या तो असत्य वस्तु का आभास होने को कहते हैं या किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रूप में प्रतीत होने को कहते हैं। तद्नुसार शाङ्करवेदान्ती कहते हैं कि ईश्वर, जीव और जगत् वस्तुतः हैं ही नहीं, फिर भी अज्ञान के कारण प्रतीत होते हैं। फिर वे यह भी कहते हैं कि एकमात्र शुद्ध परब्रह्म ही अज्ञानी जीवों को उनके अज्ञान के कारण ही ईश्वर के रूप में जीव के रूप में, और जगत् के रूप में प्रतीत होता रहता है।

पूज्यपाद आचार्य श्री अमृतवाग्भव जी शाङ्कर वेदान्त के ऐसे-ऐसे सिद्धान्तों से सहमत नहीं थे। जैसा कि उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा है, उनके विचार में वेदान्त दर्शन एक अधर दर्शन है। जब वे अभी सोलह वर्ष की आयु को पूरा कर चुके थे तो वाराणसी में उनके अपने घर में ही उनकी किसी साधना से प्रसन्न होकर उन्हें महर्षि दुर्वासा ने साक्षात् दर्शन देकर साङ्गापोङ्ग परिपूर्ण शाम्भव योग सिखा दिया। उस योग के अभ्यास से उन्हें वास्तविक सत्य का जो साक्षात्कार हुआ उसी आधार पर उनकी दार्शनिक दृष्टि बन गई, उस दृष्टि को हम सैद्ध-दर्शन की दृष्टि कह सकते हैं। जैसा उन्होंने एक बार मुझ से कहा था कि किसी विद्वत् समाज में कई एक महात्माओं के साथ उनका सम्भाषण हुआ वहां स्वामी तारानाथ जी कहने लगे—"आपकी युक्तियां तो ठीक लगती हैं, परन्तु इनके विषय में आप कोई लिखित प्रमाण प्रस्तुत कीजिए।" उन्होंने यह उत्तर दिया था "शास्त्र अनन्त हैं, आप ढूंढ़िए तो कहीं आपको लिखित प्रमाण मिल जाएंगे। मेरे लिए तो मेरी अपनी अनुभूति ही पक्का प्रमाण है।" फिर उन्होंने मुझे यह भी बताया था कि पश्चात् कश्मीर यात्रा के अवसर पर श्रीनगर में जब उन्होंने आचार्य सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनव गुप्त के ग्रन्थों को पढ़ा तो उन्हें इस बात पर बड़ा भारी हर्ष हो गया कि उनकी अपनी अनुभूतियां इन प्राचीन सिद्धों के सिद्धान्तों के साथ पूरी तरह से मिलती हैं और लिखित प्रमाणों से भी सिद्ध की जा सकती हैं। आचार्य महोदय ने मुझे अपने जीवन की एक घटना इस तरह की सुना दी थी कि वाराणसी में उनके एक पूज्य गुरु श्री नित्यानन्द पन्त के साथ इस तरह का वार्तालाप हुआ—

पन्त जी—यहां कई एक पण्डित मेरे से ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य पढ़ने की इच्छा रखते हैं, तो आप भी उसे पढ़ लो।

आचार्य जी—मुझे वेदान्त पढ़ने में रुचि है ही नहीं।

पं०— क्यों।

आ०— ये वेदान्ती जगत् को वन्ध्यापुत्रवत् मिथ्या कहते हैं।

पं०— आप वैसा मत कहो।

आ०— फिर ये भ्रम की रट लगाते हुए स्वयं भी भ्रम में डूबे रहते हैं और जनता को भी भ्रम में डुबाते रहते हैं।

पं०— हां, ऐसा प्रायः होता है, परन्तु आप ऐसा मत करो।

आ०— ये वेदान्ती तर्क-वितर्कों और परिभाषाओं को केवल रटते रहते हैं और समझ बैठते हैं कि हम मुक्त हो गए। तत्त्व के साक्षात्कार के लिए यत्नपूर्वक कोई अभ्यास नहीं करते।

पं०— आप तर्क-वितर्क को भी समझ लो और साथ अभ्यास भी कर लो।

आ०— अच्छा, मैं सोचकर आप को बता दूंगा।

पं०— अरे, इस समय मैं जीवित हूं और आप सभी को कुछ समझा सकूंगा, सुना सकूंगा, बाद में ये बातें कौन सुनाएगा।

आ०— अच्छा तो मैं भी वेदान्तदर्शन आप से सुन लूंगा। ऐसा अब निश्चय हो गया।

ऐसा निश्चय होने पर उन्होंने श्री पन्त जी से ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य को अन्य विद्वानों के साथ पढ़ना आरम्भ कर दिया। कुछ दिनों पश्चात् श्री पन्त जी ने कुछ एक प्रश्न जब पूछे तो अन्य सभी की अपेक्षा आचार्य महोदय ने ठीक-ठीक उत्तर दिये और श्री पंत जी प्रसन्न होकर बोल उठे कि सचमुच आपने ब्रह्मसूत्र का और शाङ्करभाष्य का तात्पर्य ठीक तरह से समझ लिया है। परन्तु अभी चतुःसूत्री ही पूरी हो पाई थी कि श्री पन्त जी बीमार हो गए। बीमारी बढ़ती गई और जल्दी ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया। ब्रह्मसूत्र पढ़ने वालों का अध्ययन अधूरा ही रह गया। आचार्य महोदय को दर्शन-विद्या के उत्कृष्ट सिद्धान्तों का यथार्थ-ज्ञान अपनी अनुभूति से ही हो चुका था, अतः वे तर्कवितर्कों के तात्पर्यों को अनायास ही समझते रहे।

एक बार उनके आत्मविलास नामक उत्कृष्ट दर्शन पर संन्यासियों और विद्वानों की एक गोष्ठी में विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद हुआ। वेदान्ती प्रायः हठ करते रहे और आचार्य महोदय अपनी अनुभूति के आधार पर और उपनिषद् वाक्यों के आधार पर ब्रह्म की स्वभावभूत परमेश्वरता पर जोर देते रहे। अन्त में निर्णय श्री करपात्री जी को देने की बात ठहर गई तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि आत्मविलास ग्रन्थ के सिद्धान्त और उन सिद्धान्तों की पोषक युक्तियां सर्वथा उपनिषदों के अनुकूल हैं और जरा भर भी प्रतिकूल नहीं हैं। उनके इस प्रकार के निर्णय से वेदान्ती तो हताश हो गए, परन्तु श्री करपात्री जी ने उस बात की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया और जैसा उन्हें सर्वथा उचित प्रतीत हुआ, तद्नुसार ही उन्होंने सत्य निर्णय सुना दिया। ऐसा करते हुए अपनों का कोई लिहाज नहीं किया।

आचार्य महोदय के आत्मविलास नामक ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि न्याय वैशेषिक का आरम्भवाद, सांख्ययोग का परिणामवाद और वेदान्तियों का विवर्त-वाद, तीनों ही बच्चों के, अर्थात् अवर श्रेणी के अधिकारियों के योग्य हैं, उत्तम अधिकारी के योग्य नहीं हैं—

आरम्भः परिणामो वा
विवर्तो वा चिदात्मनि।
बालान् प्रत्येव विद्वांसं
प्रति सर्वं प्रकल्पितम् ॥

(आ. वि. ३–१८)

फिर उन्होंने ने यह भी बताया है कि जगत्, जीव-निकाय और परिमित ईश्वर आदि का स्वयमेव आभासन करते रहना ही परब्रह्म की आनन्दरूपता है, क्योंकि ऐसा खेल आनन्द के ही विलास का एक अपूर्व उल्लास होता है।

आनन्दरूपता चाऽस्य
जगद्भासनहेतुना।
स्वानन्दायैव मूढोऽपि
कार्यजातं करोति हि ॥

(तदेव २–१५)

आगे यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि जीवभाव के आभास का कारण ब्रह्म से भिन्न कोई अविद्या या माया नामक उपाधि नहीं है, अपितु स्वयं परब्रह्म-स्वरूप आत्मा ही अपने लीलाविलास के द्वारा कल्पित बन्धनों की कल्पना के द्वारा अपने आप को ही जीवभाव की स्थिति में आभासित करता रहता है और ऐसा करते रहना भी उसके आनन्द का ही स्पन्दन है।

एवं स्वात्मा विलासेन
कल्पितैः पाशबन्धनैः।
जीवभावं भजन् कञ्चि
दानन्दं विन्दते मुहुः ॥

(तदेव ३–२२)

श्री आत्मविलास के चतुर्थ प्रकरण में विविध तर्कों से इस बात को स्पष्ट किया गया है कि विद्या और अविद्या दोनों ही आत्मदेव के पृथक्-पृथक् प्रकार के खेल हैं और दोनों ही ब्रह्मरूप हैं। उन्होंने वहां इस दृष्टि से परब्रह्म को महाविद्यास्वरूप ठह-राया है और विद्या और अविद्या इन दोनों को ही उस महाविद्या के ही स्वकल्पित और परस्पर सापेक्ष दो आभास माना गया है।

अस्मन्मते त्वविद्या वा
विद्या वा नास्ति तत्त्वतः।
महाविद्या स्वात्मरूपा
समुल्लसति सर्वतः ॥

(तदेव ४–२१)

अद्वैत वेदान्ती अज्ञान रूप मल को अविद्या से कल्पित ठहराते हैं, परन्तु सिद्धों के दर्शन के अनुसार अविद्या स्वयं मल है और समलता का तथा निर्मलता का आभास एकमात्र आत्मदेव का अपना पारमेश्वरी विलास है। आत्मदेव पूर्ण नैर्मल्य स्वभाव वाला है और अपनी पारमेश्वरी लीला के विलास के द्वारा आपेक्षिक निर्मलता को और आपेक्षिक समलता को आभासित करने का खेल अपने आनन्द के स्पन्दन से खेलता रहता है। इस तरह से बन्धन का आभास आत्मदेव के आनन्द का एक प्रकार का लीला विलास है और मुक्ति का आभास

दूसरे प्रकार का जैसा कि पञ्चम प्रकरण में स्पष्ट किया गया है—

स्वात्मकल्पित–मालिन्य
मलिनो जीवतां भजन् ।
मुक्तोऽपि बद्ध इव सन्
संसारित्वं प्रपद्यते ॥

(तदेव ५–२)

आगे और स्पष्ट किया गया है—

मालिन्यमन्यथा ज्ञानं
संसारोल्लास-कारणम् ।
ज्ञानं यथार्थं नैर्मल्यं
संसारोच्छेद-कारणम् ॥ ५ (२१)
उभाभ्यामप्यतीतं यत्
पूर्णं नैर्मल्य मेव तु ।
स्वात्माऽभिन्नं महाविद्या
स्वरूपं तद्विराजते ॥

अर्थ—"मालिन्य असत्य ज्ञान को कहते हैं, जिस से जन्ममरण रूपी संसृति का उल्लास होता है और सच्चा ज्ञान निर्मलता कहलाता है। जिससे संसृति छूट जाती है। इन दोनों से परे जो तत्त्व विराजमान है वह पूर्णनैर्मल्य है, जो स्वात्मस्वरूप है और साथ ही महाविद्यास्वरूप है।" तात्पर्य यह है कि निर्मलता और समलता यह एक परस्पर सापेक्ष द्वन्द्व है जिसके आभास के मूल में इन दोनों से परे ठहरा हुआ महाविद्यास्वरूप तथा पूर्णनैर्मल्यात्मक आत्मदेव ही है जिसके लीलाविलास से इस द्वन्द्व का आभास होता रहता है।

शाङ्कर वेदान्त में परब्रह्म को क्रिया से रहित केवल ज्ञानस्वरूप ही माना गया है। परन्तु सिद्धों के दर्शन में ज्ञान को भी क्रियात्मक बताया गया है। तभी तो जानता है, जानता था, जानेगा, इस प्रकार के काल का सम्प्रवेश तथा वैसे ही वचन और पुरुष का अनुप्रवेश भी ज्ञान में समाया रहता है, क्योंकि जानना तो अपने आप में भी एक क्रिया ही है। अतः सिद्धों ने परब्रह्म को ज्ञानस्वरूप भी और क्रियास्वरूप भी माना है। यदि वह क्रियास्वरूप नहीं होता तो जगत् की सृष्टि कौन करता ? यदि सृष्टि नहीं हुई होती, तो परब्रह्म की सत्ता के विषय में भी न कोई शङ्का ही उठी होती और न कोई समाधान ही हुआ होता। तो परमेश्वर तभी परमेश्वर है जब वह सृष्टि संहार आदि की क्रिया करता है। यह क्रिया ही उसकी चिद्रूपता का और आनन्दरूपता का फल है और इसी फल से उसकी सद्रूपता भी अभिव्यक्त हुआ करती है। कर्तृत्व मानने में शाङ्कर वेदान्तियों को ब्रह्म के भीतर जो मल के अनुप्रवेश की आशङ्का होती है, उसका अवसर सीमित कर्तृत्व में ही अर्थात् सङ्कोचमयी दृष्टि वाले जीव के सीमित कर्तृत्व में ही हो सकता है। परिपूर्ण कर्तृत्व में नहीं। इस सिद्धान्त को 'श्रीआत्मविलास' के पञ्चम प्रकरण में तर्क-वितर्कपूर्वक विस्तार से स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के तौर पर वहां कहा गया है—

यस्य कल्पनया मातः
कर्तृताकर्तृतेउभे ।
निराबाधा कल्पकस्य
न सा किं पूर्णकर्तृता ॥

(तदेव ६–१८)

तात्पर्य यह है कि उस पूर्ण कर्तृत्व स्वभाव वाले आत्मदेव की ही कल्पना से ईश्वर में कर्तृत्व का आभास होता है, जिसका निरूपण न्यायवैशेषिक में आया है। फिर उसी की कल्पना से सौपुप्त और शान्त ब्रह्मभाव में अकर्तृत्व का आभास होता है

जिसको लेकर के अद्वैतवेदान्त का प्रचार हुआ है।

शाङ्कर वेदान्त में ब्रह्म को शान्त, निष्क्रिय, सच्चिदानन्द माना गया है परन्तु आचार्य महोदय ने उसे सत्ता, चित्ता और आनन्दता का मूलभूत कन्दस्थानीय परिपूर्ण और स्वतन्त्र तत्त्व माना है और उसे सदा नवनव विलास को उल्लसित करते रहने वाली परमेश्वरी क्रिया के आवेश से युक्त बताया है। ऐसा उन्होंने अपनी अपरोक्ष अनुभूति के आधार पर कहा है और उसी आधार पर उसे क्षण-क्षण में अभिनवतया रमणीय बताया है—

अभिनवरमणीयं सच्चिदानन्दकन्दं
स्वनवनव-विलासोल्लासनैक प्रवीणम् ।

अनुभवसुरहस्यं मङ्गलं मङ्गलानाम्
अधिहृदि परमेशं मौनमेवाश्रयेहम् ॥

(आ० वि० १–१)

फिर उन्होंने पुरुष तत्त्व और प्रकृति तत्त्व से परे अभिव्यक्त होने वाले छः कञ्चुक तत्त्वों का और उनसे हुए पांच शुद्ध तत्वों का भी वह विश्लेषणात्मक प्रतिपादन श्री आत्मविलास की सुन्दरी टीका में किया है, जिन तत्त्वों को उपनिषदों के ऋषियों की वाणी ने छुआ तक नहीं। श्रीविंशतिका शास्त्र में अध्यातम तत्त्व पर और भी सूक्ष्मतर प्रतिपादन किया गया है और वैसे ही अनेकों रहस्यात्मक सिद्धान्तों का निरूपण श्री सिद्धमहारहस्य में और महानुभवशक्तिस्तोत्र में किया गया है। उपनिषदों में ऐसे सूक्ष्मतर सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं होने पाया।

आचार्य महोदय के कहने के अनुसार उनके विचार में गौड़पाद और शङ्कर जैसे वेदान्त सिद्ध दर्शन विद्या के अपरोक्त सैद्ध सिद्धान्तों को जानते थे। तभी तो सुभगोदय स्तोत्र में, सौन्दर्य लहरी में, प्रपञ्चसार तन्त्र में तथा ऐसे अन्य ग्रन्थों में आगम शास्त्रों के कई एक अपरोक्त सिद्धान्तों की छाया अभिव्यक्त होती है। फिर उनके विचार में शङ्कराचार्य ने प्रस्थानत्रयी के भाष्यों में उस तर्क पक्ष पर ही जोर दिया जिसके द्वारा उन्हें विज्ञानवादी बौद्धों के तर्कों का खण्डन करना था। फिर जैसा कि उन्होंने स्वयं कई बार मुझसे कहा, वेदान्ती मठों के संन्यासी शङ्कराचार्य के शुष्कतर्क को ही अपनाते आए हैं और उनके सरस सैद्ध-सिद्धान्तों की ओर कभी ध्यान देते ही नहीं। उनके विचार में यदि शङ्कराचार्य परिपक्व आयु तक इस संसार में रहे होते तो ऐसा होने नहीं देते और तर्कपक्ष और उपासना पक्ष को परस्पर जोड़ देने का भी यत्न उन्होंने किया होता और उनका अद्वैत वेदान्त एक शुष्क और बच्चों के योग्य दर्शन नहीं रहा होता परन्तु, जैसा वह चलता आ रहा है, वैसे रूप में बालोचित दर्शन ही है। तभी उन्होंने श्री आत्मविलास के प्रत्येक प्रकरण में शाङ्कर वेदान्त को ही आड़े हाथों लिया है। यह है उनकी दृष्टि अद्वैत वेदान्त के प्रति।

वे ऐसी बातें साधारण शिष्यों को प्रायः बताते नहीं थे। उन्हीं से ऐसी बातों की चर्चा करते थे जो भारतीय दर्शन विद्या के विद्वान हों। वेदान्त पर श्रद्धा रखने वालों को भी कुछ कहते नहीं थे। क्योंकि ऐसा करने से वे बेचारे न इधर के रहते न उधर के। परन्तु, पूज्यपाद श्रीमान् आचार्य महोदय को वेदान्ती कहना, उनके साथ अन्याय करना है। शङ्कराचार्य के साथ

भी उनकी तुलना करना उचित नहीं। फिर वेदान्तियों का अनुकरण करते हुए उनके नाम के साथ 'ब्रह्मलीन' ऐसा विशेषण-पद जोड़ना भी अत्यन्त अनुचित है। जैसी उनकी दार्शनिक दृष्टि थी जैसे साधना मार्ग पर वे चलते रहे उसके अनुसार उनके वन्दनीय नाम के साथ सिद्धों की दर्शन विद्या की परिभाषा में इस प्रकार का कोई विशेषण-पद जोड़ना उचित होगा– (१) मुक्तशिव (२) रुद्ररूप, (३) शिवरूप, (४) ब्रह्मरूप, (५) ब्रह्मभूत, (६) ब्रह्मभावस्थ इत्यादि।

श्री पीठ, सैद्ध-दर्शन शोध-संस्थान
८१७–ए, गांधी नगर, जम्मू।

□

'अमृतं वै वाग् वागेवामृतम्

(कविमनीषी श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य)

ले०–डॉ. शिव सागर त्रिपाठी,

श्रीयुक्तः प्रतिभायुतः सुसरलो यो नैष्ठिको भास्वरः
नैपुण्यं वहतीह योगसरणौ नैकेषु शास्त्रेषु च ।
वाग्देवीतनयो बुधः सुरगवीसेवाव्रती साधकः
आचार्योऽमृतवाग्भवः विजयते सिद्धो महामानवः ।।

अमृता सरस्वती के वरद पुत्र, परमरहस्यविद्, बहुज्ञ, वीतराग, ब्रह्मनिष्ठ, ऋषिकल्प, मनीषी एवं कविप्रवर श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य उन सिद्ध महापुरुषों में अन्यतम हैं, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक एवं सारस्वत धारा से भारत राष्ट्र के जनजीवन को आप्लावित किया है। आपने अपने व्यक्तित्व, व्यवहार, उपदेश और सर्वोपरि निश्छल, निर्भीक और सुस्पष्ट कृतित्व से हिन्दी तथा संस्कृत का आश्रय लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक क्षितिजों का इस रूप में स्पर्श किया है कि आपका बहु आयामी स्वरूप शिष्यों भक्तों, प्रेमियों और जिज्ञासुओं के लिए चिरस्मरणीय हो गया है।

आचार्य श्री जन्मना कवि थे। आपने श्लोक-रचना १२ वर्ष की अल्पायु में प्रारम्भ कर दी थी। संस्कृत भाषा, साहित्य और व्याकरण के गहन अध्ययन तथा साधना से जो सारस्वत एवं आध्यात्मिक प्रौढ़त्व प्रस्फुटित हुआ, उसने २४ वर्ष के युवक वैद्यनाथ को परिव्राजक (श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य) बना दिया। ठीक भी है—'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः'।

बाबा महाराज आशुकवि थे। जो विषय, वस्तु घटना या अनुभूति मनोनुकूल होती थी, उस पर आपका सहृदय हृदय उच्छलित हो उठता था और अवसरानुकूल सुन्दर, सरस और प्रभावपूर्ण पद्य रच देते थे। इसीलिए आपकी अनेक स्फुट रचनाएँ यत्र तत्र प्रकीर्णतः दृष्टिगत होती हैं। मेरी दो कृतियों (श्रीगांधिगौरवम्—प्राणाहुतिः) पर, निवेदन करते ही सद्यः उद्भूत आशीर्वादात्मक श्लोक इन पंक्तियों के लेखक के लिए पाथेय रहे हैं।

बाबा जी गेय श्लोकों और गीतियों की रचना ही नहीं करते थे, उनका मधुर स्वर और विशुद्ध उच्चारण से जब वे पाठ करते थे, तो श्रोता मनोमुग्ध हो जाया करते थे।

एक बार आपने मल्हार गान से वर्षा करवाकर सभी को साश्चर्य कर दिया था। 'शिव महिम्नः स्तोत्र' और 'पञ्चस्तवी का जब वह सस्वर पाठ करते थे, तो समस्त आनन्दविभोर हो जाया करते थे। इसी स्वर से आकर्षित एक अलौकिक सत्ता शिवजी महाराज ने कहा था—'तुम्हारा स्वर और पाठ्यक्रम बहुत मनोहर और मधुर है।'

आचार्य चरण का कवित्व जिन स्रोतों से प्रवाहित हुआ, उनमें से एक है उनका सम्पादकत्व। आपके द्वारा सं. १९९८ में संस्थापित 'श्री स्वाध्याय सदन' का मुख त्रैमासिक पत्र 'श्री स्वाध्याय' था। इसमें आप १७ वर्ष तक अनवरत लिखते रहे। ऋतु नाम (यथा वसन्ताङ्क, ग्रीष्माङ्क, शरदङ्क आदि) पर आधारित प्रत्येक अंक में 'स्वाध्याय महिमा' 'निवेदन' आदि स्तम्भों के अतिरिक्त पर्वों, विविध समस्याओं और सामयिक संदर्भों पर लिखते रहते थे। इस पत्र के प्रवेशाङ्क का श्लोक द्रष्टव्य है—

तद्राष्ट्रे मानवानां व्यवस्थां
शोभा सम्पच्छालिनीमार्यरीत्या।
प्रेम्णा लोके स्थापयँस्तत्त्वदर्शी
'श्रीस्वाध्यायः' कल्पतां विश्वभूत्यै॥

इसी पत्र में आप स्वाध्याय-महिमा परक दो श्लोक लिखा करते थे। उदाहरणार्थ—

तमस्तोमं नेतुं शममतुलमन्तर्हृदि ततं
सुधांशुर्यः साक्षान्मतिकुमुदिनीप्राणनकरः।
सतां सेव्यो नित्यं भवति गणनातीतमहिमा
महान् श्रीस्वाध्यायः शिवमतनु तन्वन्विजयताम्॥

'निवेदन' में विनति, भक्ति, नीति, राष्ट्रप्रेम, गुरुप्रणाम, राजनीति, शासन आदि से सम्बद्ध उद्बोधन स्वर आपकी लेखनी से प्रसूत हुए हैं। इसके अतिरिक्त ऋतु पर्व और सदाचार आदि पर अनेक श्लोक विभिन्न अंकों में विकीर्ण हैं। दीपावली से सम्बद्ध निम्न श्लोक में सानुप्रास शब्दसौन्दर्य अवलोकनीय है—

दीनावनीयदयनीयदशाविशाना—
मालोचनाय कमनीयदृशं दिशन्ती।
श्रीपूजनाय निजराष्ट्रसमृद्धिवृद्ध्यै
दीपावली दिशतु शाश्वतिकं प्रकाशम्॥

इसी प्रकार पराधीनता-काल में देश की स्वाधीनता के लिए और तत्पश्चात् राष्ट्रीयता, राष्ट्रभाषा, संस्कृत-भाषा, गोरक्षा तथा सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए आप संस्कृत तथा हिन्दी में सतत लिखते थे, जिनमें आपका वैदुष्य और कवित्व झलकता है।

धर्मप्राण भारतीय जनता के ऐहिक और पारमार्थिक सुख की कामना से अभीष्ट आराध्य देवों के चरित्र, शोभा, गुण, प्रभाव और फल आदि से समन्वित आचार्यपाद का स्तोत्र-साहित्य उनके यशस्वी व्यक्तित्व का परिचायक है। इन स्तोत्रों में अपेक्षाकृत सरल भाषा और प्रसाद गुण का आश्रय लिया गया है, ताकि इनकी सम्प्रेषणीयता में किञ्चिदपि बाधा न पड़े। ये स्तोत्र 'सूर्योदय' 'भारती' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। ऐसे प्रमुख स्तोत्र का संकलन 'अमृत स्तोत्र संग्रह' नाम से दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। स्तोत्र-रचना की दृष्टि से आप पुष्पदन्ताचार्य, शङ्कराचार्य और पण्डितराज जगन्नाथ आदि की कोटि में आते हैं।

आपके सिद्ध स्तोत्रों में एक है 'परशुराम स्तोत्र' जो ब्राह्मणवीर, शास्त्रशस्त्र प्रवीण, शापचापधारी भार्गव परशुराम को आराध्य मानकर लिखा गया है। इसी स्तोत्र के निम्न श्लोक में भक्त की अन्तश्चेतना को सरल शैली में व्यक्त किया गया है—

श्रीराम ! भार्गव ! अवच्चरणारविन्द—
मूलं शरण्यमधुना वयमागताः स्मः।
कारुण्यपूर्णसुदृशा किल नोऽनुगृह्य
शक्तिं निजामनयनाशकरीं प्रदेहि ॥

आपका 'प्रभो शम्भो' स्तोत्र सिद्धमहामन्त्र स्वरूप है, जिसके पाठ से अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है, उसे यहाँ अविकल दिया जा रहा है—

प्रभो ! शम्भो ! दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयो—
र्भवारण्यादस्माद्विषयविषयाशीविषवृतात्
समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि बद्धादरकरं
दया-दृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव।

लौकिक विषयों को लेकर लिखी गई रचनाओं में राष्ट्रवाद से सम्बद्ध 'राष्ट्रालोक' प्रमुख है। वे राष्ट्रपुरुष को परमपुरुष से कम नहीं मानते थे। इस ग्रन्थ की १०८ कारिकाओं पर आप द्वारा लिखे गए 'श्री राष्ट्रसंजीवन 'भाष्य' तथा श्री सङ्क्रान्तिपञ्चदशी और श्री क्रान्तिकौमुदीनामक रचनाओं में आपकी राष्ट्रनिष्ठा सुव्यक्त हुई है। प्रथम श्लोक में ही सरल शैली में परम्परया राष्ट्रपुरुष को नमस्कार किया है—

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृषकेतवे।
पितृपुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमो नमः ॥

राष्ट्र की सुस्पष्ट परिभाषा इससे अच्छी और क्या हो सकती है कि समान संस्कृति वाले लोगों की जितनी पितृपुण्यभूमि होती है, उतनी भूमि को घेरकर एक राष्ट्र कहा जाता है—

समानसंस्कृतिमतां यावती पितृपुण्यभूः ।
तावतीं भुवभावृत्य राष्ट्रमेकं निगद्यते ।।

राष्ट्रीयता से सम्बद्ध आपके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विचार अवलोकनीय हैं-- स्वातन्त्र्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। राष्ट्र हमारा पिता, माता और आचार्य है। हम उसके सेवक हैं। हमारा राष्ट्र हमें भोग और मोक्ष दोनों देता है। राष्ट्रवादी ही आर्य हैं और आर्य ही शान्ति की स्थापना कर सकते हैं। अभारतीय भारत के अतिथि हो सकते हैं, राष्ट्रिय नहीं। हम सच्चे राष्ट्रिय हैं और संक्रान्ति का सदा आदर करते हैं, क्योंकि उसी से राष्ट्र की सर्वतोमुखी समुन्नति सम्भव है। यह सन्देश आपकी रचना 'संक्रान्ति पञ्चदशी' के १५ पद्यों में अभिव्यक्त किया गया है।

अमूर्त भावों का देवीकरण बाबा महाराज की अपनी शैली है। विश्व शान्ति और राष्ट्रकल्याण के लिए उमा-दुर्गा स्वरूपिणी संक्रान्ति देवी ही शारदा है—

स्वातन्त्र्यं कुमतिदुरापमार्यजुष्टं
शान्त्यर्थं जगति विहाय नाऽस्त्युपायः ।
लोकानां हृदयवतां जनास्तदर्थं
संक्रान्तिं शरणमुमामिमां व्रजन्तु ।।

आचार्य श्री के अनुसार हमें ऐसी शान्ति नहीं, चाहिए जो पराधीन बनावे। वह तो शान्ति नहीं, केवल कायरता है--

यया शान्त्या पराधीनं राष्ट्रं भवति सा न हि ।
शान्तिः किन्तु नितान्तं सा केवलं क्लीबता मता ।।

आप भारतीय आदर्श के विपरीत क्रान्ति को संक्रान्ति नहीं किंक्रान्ति मानते हैं। आपको राष्ट्राध्यक्ष के लिए राष्ट्रपति शब्द रुचिकर न था, क्योंकि राष्ट्रिय राष्ट्र के पुत्र होते हैं, पति नहीं। 'राष्ट्र-भक्तों के लिए महाराज का कथन था—

स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयाच्चिकीर्षुः स्वां समुन्नतिम् ।
दूरदृष्टिर्मया भूत्वा न कदापि विषीदति ।।

लौकिक विषय से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ हैं 'सप्तपदी-हृदयम्', जिसमें बाबा जी ने गृह्यसूत्रों में श्रेष्ठ वैवाहिक जीवन के दिग्दर्शक सात सूत्रों पर सरल, कवित्वमय मौलिक पद्य सन्निविष्ट किये हैं। ये पद्य विभिन्न छन्दों में प्रतिपद अर्थगौरव और ललित पदावली से संवलित हैं। षष्ठ पद पर वर का यह कथन भावी आदर्श का परिचायक है—

आत्माऽयं परमो बहिर्मुखमहाऽऽनन्दाय बद्धीकृत—
स्तस्मात्त्वां परिणीय चित्तरचितं सर्वर्तुसौख्यं भजन् ।

राष्ट्रप्रीणनतत्परं सुयशसं वंशं प्रतिष्ठापयन
जेष्यामि प्रथितं त्वया सह तपोलोकं विशुद्धाशये ।

वर-वधू के सच्चे प्रेम, समर्पण और सौहार्द का प्रतिनिधित्व वधू के इस सप्तम वचन में हुआ है, जब वह वर के प्रति यावज्जीवन अपनी प्रतिबद्धता की कामना करती है—

प्राप्तं मया मनुजदेहफलं समस्तं
यत्सख्यमुत्तममहं भवता गताऽद्य ।
सर्वं प्रतिश्रुतमिदं हृदये दधाना
त्वामेव पूर्णहृदयेन नु कामयिष्ये ।।

आचार्य श्री ने पद्यों में निवद्ध अपने साहित्य में अनेक मात्रिक और वर्णिक छन्दों का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख छन्द हैं, अनुष्टुप्, वसन्ततिलका, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा, उपजाति, प्रहर्षिणी, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, वियोगिनी, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, औपच्छन्दसिक और शालिनी आदि। छन्दों के प्रयोग में आपने विषय वस्तु का भी ध्यान रखा है।

इनमें प्रयुक्त पदशय्या इतनी सम्बद्ध और प्राञ्जल है कि लालित्य और माधुर्य पद-पद पर द्रष्टव्य है। यत्र-तत्र आपने स्वभावसंवलित ओजोगुणविशिष्ट बड़े छन्दों का प्रयोग किया है, वहां भी पदलालित्य का स्वारस्य बराबर बना रहता है।

सुस्पष्टता, सरलता, प्रेषणीयता आदि गुणों के कारण बाबा जी ने 'आत्मविलास सिद्धमहारहस्य' तथा अन्यत्र अनुष्टुप् का सर्वाधिक प्रयोग किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी लिखा है—

शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा ।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम् ।।

आपका दूसरा प्रिय छन्द मन्दाक्रान्ता है, जिसमें भगवतीस्तव के ७१ छन्द लिखे गए हैं। आवागमन से छुटकारा पाने के लिए और मानव को भोग व मोक्ष की प्राप्ति के लिए किया गया यह प्रार्थनापरक मंगलाचरण द्रष्टव्य है, जिसमें अनुप्रास और यमक का अच्छा प्रयोग किया गया है—

भ्रामं भ्रामं विविधजननीगर्भगेहान्तरेषु
श्रान्तस्स्वान्तस्तव पदयुगं प्राप्य विश्रान्तिहेतोः ।
शान्तस्स्वान्तचरणपतितः प्रार्थये त्वां नितान्तं
मातर्माऽतः परमनुभवं जन्मनो देहि मह्यम् ।।

इसी प्रकार अन्य प्रथम दो पद्यों में 'तन्तूंस्तन्तून्' 'किन्तून् किन्तूदित' 'रन्तुं नन्तुं' 'सौधं-सौधं' 'शौद्धं शौद्धं' 'नैधं वैधं' और 'सैद्धं सैद्धं' आदि पदों से अलंकृत पद्य कवि की

आलंकारिक अभिरुचि को प्रकट करते हैं। मन्दाक्रान्ता स्तोत्र की फलश्रुति में 'मन्दाक्रान्ता' शब्द का यमकात्मक चमत्कार श्लाघ्य है—

हे श्रीमातर्ममविरचितं सर्वदुःखापहारि
मन्दाक्रान्तास्तवनमतुलं ये पठिष्यन्ति भक्त्या।
मन्दाक्रान्तास्तवशिशुरहं निश्चयेन ब्रवीमि
मन्दाक्रान्ता जगति न जनास्ते भविष्यन्ति नूनम्॥

अर्थात् हे माता मेरे द्वारा विरचित सब दुःखों को नष्ट करने वाले इस मन्दा-कान्ता स्तोत्र को जो भी भक्ति पूर्वक पढ़ेंगे उनके लिए मन्दाकान्तास्तव के समान यह मैं आपका मन्दाकान्त (धीरे-धीरे पदन्यास करने वाला) शिशु निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि इस स्तोत्र को पढ़ने वाले सभी मनुष्य कभी भी मन्दाक्रान्त (मन्दता से-मूढ़ता से आक्रान्त) नहीं रहेंगे।

कविवर्य अमृतवाग्भवाचार्य ने अपनी रचनाओं में अनावश्यक अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, तथापि स्वतः उद्भूत अलंकारों से आपकी कृतियाँ विभूषित हैं। सञ्जीवनी दर्शन में मणिकर्ण तीर्थ से सम्बद्ध यह उत्प्रेक्षा देखिये—

पापानि रोगांश्च नृणां प्रदाह्या
अस्माभिरेवात्र समूलदाहम्।
इतीव तप्तानि विनिःसरन्ति
बहिर्महीतः सलिलानि मन्ये॥

इसी प्रकार 'क्रान्ति-कौमुदी' में परा भैरवी स्वरूपा क्रान्ति देवी की प्रार्थना सानुप्रास रूपक शैली में की है—

शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहमिषात्कल्याणमातन्वती
विश्वस्य क्रमविक्रमाऽऽक्रममयी धर्मस्वरूपा शिवा।
आनन्दामृतवर्षिणी शिवमहासत्ता चिदम्भो निधिः
देवी क्रान्तिरुदारधीर्विजयतामार्या परा भैरवी॥

मन्दाक्रान्ता स्तोत्र में भगवती की नासिका के वर्णन में उपमानों की निरर्थकता बताकर प्रतीप अलंकार का प्रयोग अवलोकनीय है—

नार्हो नासां तुलयितुमयं नासया कीरवीरो
नैवाप्यर्हं तिलककुसुमं नापि चम्पाकलीयम्।

तत्सादृश्यं भजतु कतमद् वस्तु नैतद्विजाने
नासा सा मे दुरितदलनी मानसे मातरास्ताम् ।।

बाबा जी की रचनाओं में अनेकत्र श्लेष की सुन्दर छटा दृष्टिगत होती है। महागुरु श्री कृष्णस्तोत्र तो प्रायः सम्पूर्ण श्लेषमय है। एक अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण के लिए और दसरा अर्थ बाबा जी के पिता श्रीकृष्ण शास्त्री बरवले के लिए संश्लिष्ट है। इस स्तोत्र में श्लेष से बाबा जी के गुरु, शिष्य, निकट सम्बन्धी, सम्बद्ध स्थान आदि का बोध होता है। उदाहरणार्थ—

श्रीमन्मयूर सुमनोरम पक्षभूषं
श्रीराधिका हृदय कुञ्ज विराजमानम्।
वंशी करे वरकलाश्रयिणी वहन्तं
श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।

यहां प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त पिता की प्रथम पत्नी राधा, वरकल वंश, अग्रज मयूरेश्वर आदि का भी बोध होता है।

आचार्य चरण की वर्णन-शक्ति अद्भुत थी। जीवन में अनेक सिद्ध पुरुषों के दर्शन, वार्तालाप, शास्त्रचर्चा उद्बोधन और प्रेरणा से सम्बद्ध प्रसंगों में से कतिपय को आपने पद्यबद्ध कर दिया है। उनमें प्रमुख हैं—श्री देशिकदर्शनम्, श्रीसंजीवनी दर्शनम्, श्रीसिद्धमानवदर्शनम्, श्रीअमरेश्वर दर्शनम् आदि।

वर्णन में अनुभवजन्य चित्रोपम शैली दृष्टि पथ में आती है। व्यक्तिगत स्पर्श होने के कारण उनमें प्रमुख औत्सुक्य और स्वारस्य विद्यमान है। शीतज्वर से पीड़ित मानव का (स्वयं का) चित्रण कितना स्वाभाविक है।

करेण दक्षेण पिधाय वक्षः
पिधाय वामेन च मेढ्देशम्।
उत्तान आसं पतितस्तदानीं
विधाय पादौ किल पाश्चिमायाम् ।।

व्यक्तित्व और रूप-चित्रण में भी आप सिद्धहस्त थे। मृत्युञ्जय मन्त्र के द्वारा सञ्जीवनी शक्ति प्रदान करने वाले महापुरुष का आलंकारिक वर्णन पठनीय है।

सितारुण श्यामललक्षणेन नेत्रे दधातीव ननु प्रयागम्।
पश्यन् गभीरं करुणार्द्रं दृष्ट्या सभृङ्गपङ्के रुहलोचनोऽयम् ।।

नखशिखवर्णना की परम्परा में बाबा जी ने नारी-सौन्दर्य का भी चित्रण किया है, पर यह नारी सामान्य नहीं, साक्षात् भगवती पराम्बा है। भगवती के मुखमण्डल का वर्णन करते हुए आचार्य श्रीलिखते हैं—

राकाचन्द्रो जननि ! सततं त्वत्पदाम्भोरूहाणां
नित्यं कुर्वन्नपचितिचयं कान्तिमत्वं प्रपेदे ।
सोऽयं प्राप्तुं कथमनुपम स्त्वन्मुखस्योपमानं
शक्तो लोके तदवतुतरामाननं पावनं माम् ।।

कतिपय उदाहरण अलंकार–चित्रण के सन्दर्भ में ऊपर दिये जा चुके हैं ।

आपकी विषय-प्रतिपादन-शैली अत्यन्त आकर्षण है । कठिन से कठिन विषयों को आपने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पाठकों तक उनका उचित सम्प्रेषण हो सके । उदाहरणार्थ 'आत्मविलास' में आत्मा, परमात्मा, जगदुत्पत्ति, दर्शन, हम क्या है और हमें क्या करना चाहिए, आदि आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों को भी आपकी शुभ्र शैली ने हस्तामलकवत् कर दिया है । इस ग्रन्थ का एक श्लोक मालिनी छन्द में प्रस्तुत है—

अभिनवरमणीयं सच्चिदानन्दकन्दं
स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम् ।
अभिनवसुरहस्यं मंगलंमंगलाना—
मधिहृदि परमेशं मौनमेवाश्रयेऽहम् ।।

प्रकृति मानव की सहचरी है और कवि की आराध्या । सत्कवि इससे निरपेक्ष नहीं रह सकता । कवि प्रवर अमृत वाग्भवाचार्य ने भी अपने ग्रन्थों में यथावसर उसका आश्रय लिया है । वर्णनात्मक काव्यों में प्रकृति के नाना दृश्यों को स्थान मिला है । श्रीसञ्जीवनी दर्शन में कुल्लू प्रदेश के प्रकृति प्रदत्त प्रतप्त जल से युक्त माणिकर्ण तीर्थ का अवलोकन कीजिये—

स्रोतांसि शुद्धानि समुच्छलन्ति
वहत्पवित्रं मणिकर्ण तीर्थम् ।
द्रोण्यां हिमाद्रेः प्रचकास्ति दिव्यं
निसर्गतप्तानि पयांसि यत्र ।।

आपने लगभग सभी वस्तुओं पर प्रकीर्ण श्लोक लिखे हैं । हेमन्त सुषमा अवलोकनीय हैं—

हेमन्ततान्तमनसां गृहिणामथोऽद्य
हेमन्त हन्त भवितासि कृतोपकारः ।

प्रकृति के विख्यात घटक-युग्म का चित्रण निम्न श्लोक में सहज किया गया है–

आपादान्तं पतिविरहजं पाण्डिमानं दधानां
कान्ते पत्यौ मतिमति गते राजहंसि प्रवासम् ।

चञ्चू शोणां चरणयुगलं चापि शोणं वहन्ती
सन्देहं त्वं हर सखि कथं शंसितुं शक्नुया माम् ॥

आचार्यपाद पाणिनीय व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे, जैसा कि आपकी कृतियों में प्रयुक्त प्राञ्जल भाषा और कुशल शब्द-चयन से स्पष्ट होता है। सन्धि-प्रयोग परम्परया किया है, फिर भी यत्र तत्र आपने उन्हें आवश्यक नहीं माना है। जैसे पृष्ठ ४२ पर उद्धृत श्लोक में प्रथम चरण के अन्त में 'प्रदाह्या' पद है पर द्वितीय चरण को बिना सन्धि किये 'अस्माभिः' से प्रारम्भ कर दिया है।

अपनी रचनाओं में आप व्याकरणदृष्ट्या सर्वतः शुद्ध पाठ के लिए विचार करते थे और शंका होने पर सम्बद्ध पद को बदलने का प्रयास करते थे। उपरि पृष्ठ ३९ पर उद्धृत 'प्रभो ! शम्भो !' परशिव-प्रार्थना में 'बद्धादरकरं' पद में व्याकरण-दोष समझ कर आप संशोधन करना चाहते थे, पर एक अलौकिक महापुरुष ने उन्हें रोका और शंका का निराकरण किया।

शाक स्वरूप महाशिव के लिए प्रयुक्त दो शब्दों 'शाक' और 'काश' का निर्वचनात्मक स्वरूप द्रष्टव्य है—

शाकः काशश्च काशश्च शाको भवति सर्वथा।
यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते ॥

ऐसे निर्वचनों से अनेकत्र गुत्थियां भी सुलझी हैं। जैसे दुर्गा सप्तशती के एकादश अध्याय में शाकम्भरी देवी का उल्लेख आया है, वहां प्रायः 'शाक' का अर्थ सामान्य 'साग' लिया जाता है—

भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः।
शाकम्भरीति विख्यातं सदा यास्याम्यहं भुवि ॥

किन्तु बाबा जी ने श्रीसिद्ध-महारहस्य में 'शाक' को महाशिव रूप बताया है। इस दृष्टि से उक्त पद का अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है जैसा कि प्रस्तुत श्लोक में संकेतित है—

शाकेन भरितं सर्वं शाकरूपमहम्महः।
शाकम्भरीति विख्यातं शिवं विजयते परम् ॥

एकत्र समवेत क्रियापदों की छटा प्रस्तुत श्लोक में द्रष्टव्य है—

उत्तमः पुरुषः स्वस्मिन् भामि यामि रमे सदा।
वमामि त्वं प्रामि यामि संहरामि स्वयं प्रभुः ॥

आपने अनेकत्र नव शब्द किंवा अप्रचलित शब्दों का बेहिचक प्रयोग किया है जैसे 'वैद्यान् प्रति' में वैद्य के लिए 'गदहा' (गदं रोगं हन्तीति—रोग का विनाश करने वाला) शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया है। आपकी रचना में शाब्दिक और आर्थिक सामञ्जस्य भी दृष्टिगत होता है, क्योंकि आप शब्द-चयन में सिद्धहस्त है। उदाहरणार्थ—

कलित कलिकलानां कल्पिताङ्कं खलानां
कलयत कविलोकाः कौतुकं कीदृगेतत् ।
कविकुलकलिताभिः कीर्तनीयां कलाभिः
कटु कथयति काकः काकलीं कोकिलानाम् ।।

आचार्यश्री ने अपनी रचनाओं को सर्वसुलभ बनाने के लिए प्रायः अभिधा का आश्रय लिया है, पर यथावसर उन्होंने लक्षणा और व्यञ्जना का भी प्रयोग किया है। मन्दाक्रान्ता स्तोत्र के सप्तम पद्य में 'हरमुखा-दुद्गत' पद ध्वनिपरक है, क्योंकि तन्त्रशास्त्र में भगवती की उत्पत्ति भगवान् शंकर के मुख से मानी गई है। आप सामयिक समस्याओं पर व्यङ्ग्य् भी करते थे, जिसे 'राष्ट्रालोक' और 'श्रीस्वाध्याय' में लिखित 'निवेदनम्' में सहज देखा जा सकता है। देखो, आप नेताओं के विषय में क्या कहते हैं—

चरन्तः स्वच्छन्दं जनधनमिमे नेतृचरणाः
स्वराष्ट्रं सेवाभिः सपदि सुखयामो वयमिति ।
पदैः श्वेतैः श्यामां' तनुमनिशमावृत्य शमहो
स्वराष्ट्रस्पेदानीं किमपि कलयन्ते परभृताः ।।

आचार्यचरण अमृतवाग्भव के काव्य की एक विशेषता है, उनकी मौलिकता। कतिपय विषय भले ही परम्परागत हों, पर उनका प्रस्तुतीकरण नैपुण्यमय और बुद्धि-ग्राह्य है। प्रसादपूर्ण, लालित्ययुक्त और परिष्कृत शैली ने उसे और भी समुज्ज्वल बना दिया है। सारस्वत बीज की फलश्रुति की कोमल व्यंजनों से ओतप्रोत माधुर्य-व्यञ्जना स्तुत्य है—

स्मारं स्मारं जितशतशरत्पार्वणेन्दुप्रकाशं
वारं वारं शिरसिच सुधासार बीजं सुबीजम्
वाचां द्राक्षा मधुरिमधुरं बिभ्रतीनां वदान्यं
मातर्नूनं कविकुलशिरोरत्नतामेत्ययत्नात् ।।

आपनकी काव्यसर्जना स्वान्तः सुखाय और जनहिताय हुई है। इसकी पुष्टि उनका समस्त रचनाओं उपरि उद्धृत पद्यों और इतस्ततः प्रकीर्ण सूक्तियों से होती है। इन सूक्तियों में शाश्वत तथ्य, नीतिवचन, सदाचार, आदि की उद्भावना हुई है। आपने स्वयं लिखा है—

स्वसूक्तिपीयूषरसप्रवाहैः ये तोषयन्ते स्वजनं समस्तम् ।
निर्माय कल्याणपथं भवे ते सन्तोषमन्तः सततं वहन्ते ।।

आपकी सूक्तियों का संग्रह 'अमृतसूक्तिपञ्चाशिका' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। 'सूर्योदय' पत्रिका में 'सूक्तिलहरी' (४४/७) तथा 'श्री सूक्तिमञ्जरी' (४४/८) शीर्षकों में अनेक सूक्तिपरक श्लोक उपलब्ध होते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

नाचरति मित्रवृन्दे मित्रेण समं न रिपुषु रिपुवद्यः ।
पशुरेव स मन्तव्यः पशुपतिरथवा स लोकेऽस्ति ॥

प्रस्तुत लघु लेख में आचार्य श्री के कतिपय काव्यात्मक गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है। पूर्वजन्म के संस्कारों और इस जन्म की तपस्या तदुपरि भगवान् की अहेतुकी कृपा के कारण आपने प्रत्येक अभीष्ट क्षेत्र में सफलता प्राप्त की और संस्कृत-साहित्य की सतत सेवा की। आपके तेजोदीप्त क्रान्तदर्शी और अलौकिक स्वरूप को देखकर आपको परमेश्वर का अंशावतार कहना अतिशयोक्ति न होगा, क्योंकि गीताकार श्री कृष्ण ने कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

आपकी कृतियों में कोई महाकाव्य उपलब्ध नहीं होता, शायद आपने इसकी आवश्यकता भी नहीं समझी। आपने धर्म, दर्शन, नीति, राष्ट्रत्व, सिद्धदर्शन, आदि प्रकीर्णक विषयों को लेकर जो काव्यजगत् की सृष्टि की है, वह आपको आचार्यत्व और संस्कृत-साहित्य के कुशल अवदाता के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है।

आपने प्रायः समस्त रचनाओं में अपना सुगृहीत नाम श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य का तथा तिथि, संवत् और स्थान आदि का उल्लेख किया है।

अस्तु, ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा में आपके लिए यह कहना नितान्त समीचीन होगा—

'अमृतं वै वाग् वागेवामृतमिति'

अन्त में ऐसे प्रेरक व्यक्तित्व से सम्पन्न कवि, योगी, धर्मात्मा, अवधूत, महापुरुष और दिव्यांश के प्रति शतशः नमन—

श्रद्धाञ्जलिः समर्प्यत एतेन लघुसमीक्षालेखेन ।
विद्वदमृतवाग्भवाय नमस्तस्मै ब्रह्मलीनाय ॥

□

संस्कृत विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय
ए–६५, जनता कालोनी, जयपुर

आचार्यश्री और शाक्त-दर्शन

लेखक–आचार्य रामस्वरूप अग्निहोत्री

जिस विचारधारा के द्वारा परम तत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है वह दर्शन शब्द से व्यवहृत होती है। दर्शन असंख्य हैं उनकी संख्या नियत नहीं है। वैसे षड्दर्शन शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता है। आस्तिक दर्शन वेदानुकूल सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। भारतीय परम्परा में भी ऐसे अनेक दर्शन उपलब्ध हैं, जिनका वैदिक सिद्धान्तों से सामान्यतया समन्वय सम्भव नहीं है।

शाक्त दर्शन की परम्परा अत्यन्त पुरातन और वेदानुकूल है। शाक्त दर्शन एक विशिष्ट दर्शन है—मुक्ति प्राप्ति का एक विशिष्ट राजमार्ग है। तन्त्र ग्रन्थों के पर्यालोचन द्वारा पता चलता है कि यह मार्ग मुक्ति और भुक्ति दोनों का साधन है।

जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं और जहां मोक्ष है, वहां भोग नहीं, किन्तु शक्ति उपासना में उभय प्राप्ति सरलता से संभव है। शाक्त दर्शन में शक्ति ही परम तत्त्व है। उसी से अखिल विश्व की उत्पत्ति होती है। उसी में उसकी स्थिति और लय है। विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय में चित् शक्ति स्वतन्त्र है और यह सत् चित् आनन्द स्वरूपा है।

शक्ति भगवती का कथन है—

"मैं ही रुद्रादि रूपों के द्वारा समस्त कार्यों का सम्पादन करती हूँ। मैं सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा मङ्गलमयी भी शिवा हूँ। रुद्र, वसु आदित्य, विश्वेदेव आदि मेरे ही रूप हैं। मित्र, वरुण, इन्द्र और अग्नि तथा अश्विनी कुमारों को धारण करती हूँ।" इत्यादि इस प्रकार ऋग्वेद के मंडल १० अध्याय १० सूक्त संख्या १०५ में शक्ति दर्शन के मूल का विशद वर्णन उपलब्ध है।

महा माहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त ने शिवशक्ति की स्तुति करते हुए कहा है—मां, सम्पूर्ण आकृतियों में मुझे आपके स्वरूप का दर्शन होने लगा है। मेरे समय का क्षुद्रतम अंश भी तुम्हारे स्तवन, अर्चन और चिन्तन से रहित नहीं है। भगवान् आद्य शंकराचार्य ने भी अपनी सौन्दर्यलहरी में पराम्बा की प्रार्थना करते हुए यही भाव प्रकट किया है। (द्रष्टव्य सौन्दर्य लहरी श्लोक २७) सौन्दर्य लहरी के प्रथम श्लोक में भी भगवान् आचार्य शंकराचार्य ने शक्ति-तत्त्व को प्रधान सिद्ध करते हुए कहा है— यदि शिवं शक्ति से रहित हों तो वे स्पन्दित होने की भी स्थिति में नहीं रहते, शक्ति सम्पन्न होकर ही शिव कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्, के समर्थ होते हैं।

(क) आचार्य श्रीमान् अमृतवाग्भव का कथन है—

"शाक्त दर्शन में जिस शक्ति का विवेचन हुआ है, वह शक्ति जड़ शक्ति नहीं है। वह चित् शक्ति है। वह शिव से अभिन्न है। जगत् की सृष्टि की मूलभूता यही शक्ति है।" महाशक्ति के नाम से भी इसी चित् शक्ति का व्यवहार शास्त्रों में किया गया है। इसी शक्ति को शैवजन शिव और शाक्त समुदाय शक्ति कहता है। वस्तुतः ये दोनों अभिन्न है। जो शक्ति है वही शिव है और जो शिव है वही शक्ति है। एक ही अद्वय तत्त्व अलग नामों द्वारा पुकारा जाता है। शिव को सुधीजन प्रकाश और शक्ति को विमर्श की संज्ञा देते हैं। सिद्धान्ततः प्रकाश और विमर्श अभिन्न है। जो प्रकाश है वही विमर्श है और जो विमर्श है वही प्रकाश है। उभय सामरस्य ही महाशक्ति हैं। अद्वयवादी शाक्त और शैव शिव और शक्ति में अभेद मानते हैं। शैव और शाक्त अद्वैत सिद्धान्त एक है। एक से दूसरे को अलग करना अति कठिन ही नहीं अपितु असम्भव प्रतीत होता है।

(ख) मन्दाक्रान्ता आदि स्तवों में आचार्य चरण ने यही कहा है—

शिव और शक्ति में भेद की कल्पना व्यर्थ है। मूलतः दोनों एक हैं। दोनों ही चिद् रूप होने के कारण अभिन्न हैं। जहां शिव हैं वहां शक्ति है और जहां शक्ति है वहां शिव विद्यमान हैं।

समयाचार के आचार्य शिव और शक्ति में साम्य स्वीकार करते हैं और उस समता को पांच प्रकार की मानते हैं।

सिद्धान्ततः प्रकाश कभी विमर्श का त्याग नहीं करता और विमर्श प्रकाश से अलग नहीं होता। शाक्त मत में इस सिद्धान्त को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयास किया गया है। संक्षेप में, इतना कहना ही पर्याप्त है कि प्रकाश और विमर्श शिव शक्ति के ही नामान्तर हैं। इस प्रकार शिव शक्ति की आराधना सर्व विध कल्याणों की जननी और संरक्षिणी है। बिना शक्ति समारा धन के लौकिक और पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। किसी भी देवता की उपासना की जाय, मूलतः वह शक्ति की ही उपासना है। गणेश, शिव, विष्णु और सूर्य आदि के रूप में शक्ति की ही उपासना की जाती है। शक्ति की उपासना के संसार का कोई भी कार्य नहीं चल सकता, अतः यह कथन सर्वदा निर्विवाद है कि शाक्त-दर्शन शाश्वत और सनातन है और उसके सिद्धान्त सर्वदा सर्वजनाय और सर्वहिताय हैं।

भगवती महाशक्ति ही प्रकाश और विमर्श के रूप में समस्त विश्व में ओतप्रोत है। वस्तुतः विमर्श ही प्रकाश और प्रकाश ही विमर्श है। सर्वसाधारण को द्वैत दशा में भी किसी वस्तु का यदि प्रकाश होता है तो साथ ही विमर्श भी हो जाता है। प्रकाश और विमर्श अभिन्न है—इस प्रकार शिव और शक्ति एक ही पराशक्ति के दो नाम हैं। यह शक्ति ही परमेश्वर की परमेश्वरता है। शक्ति के अभाव में कुछ भी संभव नहीं है केवल अभाव ही अभाव रहता है। महानुभव शक्ति स्तोत्र इसी तत्त्व का प्रतिपादक है।

इस महामहिम शालिनी शक्ति की उपासना शाक्त दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है। लक्ष्मीनारायण के भक्त लक्ष्मी के रूप में श्री सीताराम जी के उपासक श्री सीता माता के रूप में और राधाकृष्ण के आराधक

राधारानी के रूप में इसी शक्ति तत्त्व की समर्चना करते हैं। इसीलिए वैष्णवाचार्यों का कथन है—

"जो गौर तेज की उपासना के बिना श्याम तेज की उपासना करता है, वह महापातकी होता है।"

इस कथन से यह सिद्ध है कि बिना शक्ति के शक्तिमान् की उपासना की कोई उपादेयता नहीं है।

आचार्य श्रीमान् अमृतवाग्भव ने लिखा है—

विशाल विश्व में समस्त शक्तियां महाशक्ति के ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न रूप हैं जैसे इच्छा-शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। पञ्चस्तवी की व्याख्या में आचार्य चरण ने स्पष्ट किया है—

वेद प्रतिपादित मार्ग के अनुयायी सभी मुख्य रूप से शाक्त हैं, क्योंकि वे प्रधान रूप से गायत्री स्वरूपा भगवती महाशक्ति की ही उपासना करते हैं। गायत्री के बिना किसी भी कर्म के करने का अधिकार द्विज-जनों को प्राप्त नहीं होता है। शक्ति की उपासना ब्रह्म-विद्या की उपासना है। उसे जिस किसी भी रूप में किया जाय, उससे इस लोक में अभ्युदय और अन्त में निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। मार्कण्डेय पुराण की अनेक कथाओं में इसी पराम्बा की उपासना को स्वर्ग और अपवर्ग की दात्री कहा गया है महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती स्वरूपा दुर्गा ही दुर्गतिनाशिनी राजराजेश्वरी है। वही कल्याणमयी करुणामयी सर्वमङ्गला कामेश्वरांकनिलया ललिता है। इन सभी रूपों में महात्रिपुर सुन्दरी ही—जगत् कल्याण के रूप में अपनी लीला कर रही है। यह महाशक्ति पर्वत को धूलिकण—रजकण को पर्वत, बिन्दु को सिन्धु, सिन्धु को बिन्दु, रंक को राजा और राजाधिराज को दीन-हीन अकिञ्चन जन के रूप में परिणत कर देती है। संसार का कोई भी ऐसा कार्य नहीं, जो महाशक्ति की कृपा से असम्भव हो। आवश्यकता है केवल दृढ़ श्रद्धा और विश्वास की। श्रद्धा और विश्वास के रूप में वही भवानी और शंकर भक्तजनों के अन्तःकरण में विराजमान रहते हैं। इनकी उपासना के अनेक मार्ग हैं। आचार्य-परम्परा के अनुसार अधिकार प्राप्त करके शिव-शक्ति के रूप में राजराजेश्वरी ललिताम्बा के रूप में अथवा दुर्गाम्बा के रूप में, सीताराम या राधारानी के रूप में शक्तिमान् के साथ शक्ति की उपासना करनी चाहिए। सौन्दर्य लहरी, ललिता-सहस्रनाम, दुर्गासप्तशती, पञ्चस्तवी आदि में इस उपासना क्रम का सुन्दर वर्णन है। इन ग्रन्थ रत्नों के आधार पर उपासना करने से निःसन्देह सिद्धि प्राप्त होती है—ऐसा सत् सम्प्रदायाचार्यों का कहना है।

महामहिम, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार्य प्रवर श्रीमान् अमृत वाग्भव भगवत्पाद का आविर्भाव इसी परम्परा की रक्षा और संवर्धन के हेतु हुआ था। उन्होंने अपने ग्रन्थ रत्नों की रचना इसी तत्त्व का रक्षा के लिए किया है। साधकजनों को उनके ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन करके अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए। आचार्य प्रवर द्वारा प्रदर्शित मार्ग नित्य श्री और नित्यमङ्गल प्रद मार्ग है। इस मार्ग का यात्री इस लोक और पर लोक दोनों को प्रशस्त करेगा—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इन शब्दों के साथ मैं ब्रह्मलीन आचार्य चरणों में पुनः पुनः श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ।

जयति शिवा शिव जानकी राम
गौरी शंकर सीताराम ।

८९०, बरकत नगर-जयपुर

□

आचार्यश्री और श्रीपरशुराम स्तोत्र

लेखक–डा० भवानी शंकर त्रिवेदी
एम.ए. पी-एच.डी.

शास्त्री में अध्ययन के समय अमृतसर से नैणादेवी जाते हुए मार्ग में कुराली में मुझे बताया गया कि वहां एक बड़े विद्वान् एवं आशुकवि ब्रह्मचारी जी आए थे। सम्भवतः नैणादेवी मैं तुम्हें उनके दर्शन हो जाएं। वहां हमारी एक ब्रह्मचारी से भेंट भी हुई। वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता किन्तु विशिष्ट विद्वान् नहीं लगे। बाद में ज्ञात हुआ कि अन्य व्यक्ति थे।

तदनन्तर काश्मीर जाते हुए श्री महाराज जी अमृतसर पधारे। उनके गौरवर्ण, सौम्य सुन्दर देवोपम व्यक्तित्व का दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। श्री मार्तण्ड पंचांग में प्रकाशित कुराली के 'गुसाइआणा' नामक तीर्थ के वर्णन-सम्बन्धी महाराज जी के कई श्लोक मैं पहले ही पढ़ चुका था। उनमें से एक श्लोक यहां प्रस्तुत है :—

तीर्थं प्रसिद्धं हृदयानुकर्षी–
गुसाइआणाभिधमस्ति तत्र।
प्रच्छायकुंजाञ्चितमंजुभूमिः
सरोवरं सुन्दरमस्ति यत्र॥

उन दिनों हम नवयुवक विद्यार्थी तथा कई पण्डित लोग भी श्री भगवान् परशुराम का महत्त्व प्रदर्शित किया करते थे। मैंने श्री महाराज जी से निवेदन किया कि आप श्री परशुराम स्तोत्र की रचना कर डालें, तो अत्युत्तम रहे। कुछ दिनों बाद काश्मीर से वापस लौटते समय श्री महाराज जी ने स्वरचित 'श्रीपरशुरामस्तोत्र' की एक हस्तलिखित प्रति मुझे दे दी।

हम कल्याण में प्रकाशित दाढ़ी-मूँछधारी श्री परशुराम जी के चित्र को देखकर यह भी सोचा करते थे कि भगवान् परशुराम तो अवतार थे और अवतारों के लिए तो कहा गया है कि वे सदा षोड्शवर्षदशीय रहते हैं, अतः परशुराम जी के इस स्तोत्र में ऐसा चित्र दिया जाना चाहिए, जिसमें उन्हें भी भगवान् श्रीराम एवं श्रीकृष्ण की भांति किशोर रूप में ही चित्रित किया जाए। श्री महाराज जी का यह आदेश था कि वह चित्र–

"सम्पूर्णा विलसन्ति सोपनिषदो वेदोपवेदाः पुरः।"

इत्यादि परशुराम स्तोत्र में दिये गये ध्यान के सर्वथा अनुरूप होना चाहिए और इस प्रकार सम्भवतः संवत् १९७९ में श्री परशुराम स्तोत्र प्रकाश में आ गया। कुछ समय बाद श्रीमहाराजजी ने राष्ट्रालोक की पाण्डुलिपि भी मुझे दी। उन कारिकाओं के ऊपर विषय-निरूपण-सूचक पंक्तियाँ जोड़कर राष्ट्रालोक भी प्रकाशित कराया गया। इसे

मुद्रित करने के लिए अमृतसर का कोई प्रेस तैयार ही न होता था। सभी डरते थे कि कहीं ऐसी क्रान्तिकारी राष्ट्रीय रचना प्रकाशित करने के कारण हम ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन न बन जाएं। अन्ततोगत्वा श्री भीमसेन जी विद्यालंकार के 'नवयुग प्रेस' लाहौर में श्री राष्ट्रालोक भी मुद्रित करवा दिया गया। इसकी भूमिका के प्रकाशन के समय मैंने श्री महाराज जी से निवेदन किया कि इसे यदि श्री मालवीय जी महाराज को समर्पित किया जाए, तो बहुत अच्छा रहे। श्री महाराज जी यद्यपि मालवीय जी के अस्पृश्यता-निवारण आदि अनेक कार्यों और विचार के कटु आलोचक थे, तथापि उन्होंने तत्काल समर्पण-सम्बन्धी कुछ श्लोक बोलकर अपने उदार दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष परिचय दिया। उनमें से एक श्लोक यह है –

ग्रन्थवंशीमिमां हस्ते कृत्वा
मदनमोहन ।
प्रेम्णा निनादयन् राष्ट्रं
प्रबोधय महामना ॥

स्मरण रहे कि यह समर्पक ग्रन्थकार की ओर से न होकर प्रकाशक की ओर से ही था।

उन्हीं दिनों श्री मातृभाषा प्रचारक मण्डल की स्थापना भी मैंने की थी। श्री महाराज जी की दोनों लघुकाय रचनाओं के प्रथम संस्करण इसी संस्था की ओर से प्रकाशित हुए। कुछ समय पश्चात् श्री महाराज जी आत्मविलास की पाण्डुलिपि लेकर पधारे। इसके मुद्रण की व्यवस्था उन्होंने ही जालंधर के हाडा प्रेस में कर ली थी।

यह महाराज जी की कैसी दिव्य अनुकम्पा थी कि अपने ही व्यय से प्रकाशित आत्मविलास पर भी उन्होंने प्रकाशक मातृभाषा प्रचारक मण्डल अमृतसर का नाम देने की कृपा की। इसके ऊपर—"श्री मातृभाषा प्रचारकग्रन्थमालाया तृतीयं पुष्पम्" वाक्य भी दिया गया। अस्तु,

अब मैं यहां श्री परशुराम स्तोत्र-पाठ के लोगों के कुछ अनुभव पाठकों के समक्ष रखना चाहूँगा।

श्रीपरशुराम स्तोत्र का दिव्य फल

श्री परशुराम स्तोत्र का सबसे बड़ा सुफल तो यह हुआ कि इसके प्रकाशन से पूर्व श्री परशुराम जी को क्षत्रिय-द्वेषी समझा जाता था। इसके दुष्ट-दमनकारी एवं विश्व-कल्याणकारी स्वरूप को पहचानने लगे। आज क्षत्रिय, वैश्य, जैन आदि अन्य समाजों के अनेक महानुभाव भी श्री परशुराम स्तोत्र का श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पाठ करते-करवाते हैं तथा उन्हें यथेष्ट फल की प्राप्ति भी निश्चित रूप से होती देखी गयी है। जैसे कि :—

१. हिन्दी संस्कृत के विख्यात प्रकाशक मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास फर्म के अध्यक्ष स्व० लाला खजांची राम जी जैन उन दिनों किसी मुकदमे में उलझे हुए थे। श्री महाराज जी के चरणों में उपस्थित होकर जब उन्होंने अपने इस संकट के बारे में निवेदन किया, तो महाराज जी ने उन्हें किसी योग्य विद्वान् से श्री परशुराम स्तोत्र को नित्य पाठ करवाने का आदेश दिया। आदेशानुसार पाठ करवाने से लाला जी मुकदमे में विजयी हुए। बाद में भी वर्षों तक विख्यात संस्कृत विद्वान् स्व. पं. छज्जूराम जी शास्त्री के कनिष्ठ भाई से इसका पाठ करवाते रहे और स्वयं उन्होंने

इस स्तोत्र का एक नव्य-भव्य संस्करण प्रकाशित करवाकर वितरित करवाया।

२. श्री परशुराम स्तोत्र के बारे में श्री पं. देशराज जी ने बताया कि उनके सुपुत्र को किसी विद्यालय प्रवेश में बाधा उपस्थित हो गयी थी, जो इसके नित्य पाठ करने से दूर हो गयी और उसे प्रवेश मिल गया।

श्री परशुराम स्तोत्र पाठ की महिमा-सम्बन्धी ऐसे बीसियों उदाहरण प्रतिदिन सुनने में आते रहते हैं। अन्त में यही निवेदन कर लेख समाप्त करना चाहूँगा कि :–

गुरुवर्यः शिवः साक्षा
दाचार्योऽमृत-वाग्भवः।
जीवनं मे च साहित्यं
कृपया तस्य राजितन्॥

आर्य भारती
जी–१८, दिलशाद कालोनी,
दिल्ली-११००३२

□

आचार्यश्री और राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप

ले.—आचार्य रामस्वरूप अग्निहोत्री

शिक्षा ही समस्त उन्नतियों का मूल है। शिक्षा के अभाव में राष्ट्र की समुन्नति आकाश-सुमनस् तुल्य कल्पनामात्र है। शिक्षा के बिना सब कुछ असंभव है। अशिक्षित जन अन्धे के समान हैं। शिक्षा का तात्पर्य आचार्य श्री अमृतवाग्भव देवपाद के अनुसार शास्त्रीय शिक्षा से है।

शास्त्र ही मुख्य है, जिसके पास शास्त्र रूपी नेता का अभाव है, वह अन्धा है। कार्य और अकार्य का निर्णय शास्त्र ही कर सकता है। श्रीमद्‌भगवद् गीता में यही बात भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा ने अपने सखा अर्जुन से कही थी। शासन के सुचारु संचालन के लिए भी इसी व्यवस्था की मुख्य रूप से आवश्यकता है। शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में हित-अनहित का सही रूप नहीं जाना जा सकता। इसलिए शास्त्रीय ज्ञान के लिए सत् शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। बिना सुशिक्षा के शास्त्र प्रतिपादित तत्त्वों का परिज्ञान नहीं हो सकता अतः सर्वतोमुखी समुन्नति के निमित्त शिक्षा का सुप्रबन्ध भली-भांति होना चाहिए। शिक्षा शून्य जनों के द्वारा राष्ट्रहित कदापि संभव नहीं है। योग्य व्यक्ति सबकी उन्नति में अपनी उन्नति स्वीकार करते हैं। अयोग्य व्यक्ति स्वयं पतनोन्मुख होते हैं और अपने अनुयायियों को भी पतन के गर्त में गिराते हैं। योग्यता का आधार है शिक्षा। राष्ट्र के जनों को सुयोग्य नागरिक बनाने के लिए सुशिक्षा का होना अनिवार्य है। सुशिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है, जो ज्ञान और विज्ञान की उन्नति के साथ राष्ट्र को स्वावलम्बी और सदाचार सम्पन्न बना सके। केवल उदर पूर्ति मात्र करने वाली शिक्षा तो शिक्षा-शब्द का दुरुपयोग है। उदर-पूर्ति तो पशुपक्षी भी कर लेते हैं।

जिस के जीवित रहने से अन्य जनों को भी जीवित रहने का सौभाग्य प्राप्त हो; वही वस्तुतः जीवित है। राष्ट्रालोक में आचार्य प्रवर ने इसी तथ्य को अनेक कारिकाओं द्वारा विद्वत् समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। आर्यत्व प्राप्ति ही आत्मोन्नति का मार्ग है। इस आर्य भाव की उपलब्धि मानवमात्र को षडङ्ग वेदाध्ययन द्वारा हो सकती है। इसलिए राष्ट्र की उन्नति और मानवमात्र के हित की रक्षा के लिए वेदशास्त्रों का पठन-पाठन प्रधान रूप से होना परमावश्यक है। ज्ञान के बिना विज्ञान और विज्ञान के बिना ज्ञान अधूरा रहता है, अतः शिक्षा ऐसी हो जिसमें ज्ञान विज्ञान का सामंजस्य बना रहे और सर्व-साधारण इस लाभ को प्राप्त कर सके।

इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था इस समय हो-इसकी परम आवश्यकता है। प्राचीन भारत में इसी प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध ऋषिकुलों और गुरुकुलों में किया गया था। आज की जनता की वास्तविक उन्नति इसी प्रकार की शिक्षा से सम्भव है। ऐसा श्रीमान् आचार्यवर्य का कथन है। राष्ट्रालोक की प्रथम—कारिका में इसी तथ्य का प्रतिपादन है। षडङ्ग वेद शिक्षा पर बल देकर श्रुति भगवती ने भी उक्त तथ्य की घोषणा की है।

वर्णाश्रम, जाति, देश और काल को देखकर ही शिक्षा दी जाये। अपात्र में दिया ज्ञान व्यर्थ होता है। आचार्य चरण ने श्रुति के प्रमाण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए लिखा है कि जो ज्ञान-विज्ञान के सिद्धान्तों का सही अर्थ नहीं जानता, वह उस व्यक्ति के तुल्य है, जिसके सिर पर चन्दन रखा हुआ है और वह उसकी सुगन्ध को नहीं जानता, केवल भार वहन करता है। अज्ञानी जनों को आचार्यवर्य ने पशु तुल्य बताकर ज्ञानार्जन की अनिवार्यता पर बल दिया है।

आर्य अनार्य के भेद का आधार भी आचार्य प्रवर ने ज्ञान-विज्ञान को ही बताया है। दैवी सम्पद् ज्ञान की और विज्ञान की उन्नति में निजी उन्नति मानती है। आसुरी सम्पद् भोगों को ही जीवन का प्रधान उद्देश्य मानती है।

ज्ञान प्रधान दैवी सम्पद् को जिन्होंने अपनी धरोहर माना है, उन जनों को इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस की प्राप्ति का होना स्वतः सिद्ध है। आर्यजन शिक्षा द्वारा राष्ट्र की समुन्नति मानते हैं जबकि अनार्य भावना के पोषक अविवेक और पशुबल के आधार पर राष्ट्रोन्नति के समर्थक हैं। राष्ट्र की उन्नति के लिए राजनय की समुचित शिक्षा सर्वसामान्य को दी जाय और देश की परतन्त्रता और स्वतन्त्रता के अन्तर पर विचार कर के इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि राष्ट्र की उन्नति का कारण वस्तुतः क्या है?

आचार्य चरणों ने वाराणसी से प्रकाशित 'सूर्योदय' संस्कृत मासिक पत्रिका में लिखा था कि निजी समुन्नति के लिए अपने राष्ट्र की शिक्षा को प्राप्त करना चाहिए। उनका कहना था कि सबसे पूर्व शिक्षा पर ही ध्यान देना आवश्यक है। सारे कार्य शिक्षामूल हैं। आत्मविलास नामक ग्रन्थ में पूज्य आचार्य प्रवर श्रीमान् अमृत वाग्भव महाराज ने शिक्षा के सन्दर्भ में अपने मत को स्पष्ट करते हुए लिखा है इस विशाल विश्व का प्रत्येक प्राणी अपनी उन्नति चाहता है किन्तु वह अपना आचरण उन्नति के अनुकूल नहीं रखता। ऐसी स्थिति में उन्नति कैसे सम्भव है, जब निर्बल जनों को सबलजन अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कष्ट देने में उनका ध्यान करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना अपना लक्ष्य बना लेते हैं, तब राष्ट्र अधःपतन की ओर जाता है।

आचार्य वर्य ने नीतिशतक, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों के आधार पर सत् पुरुष और असत् पुरुषों के भेद का उल्लेख किया है। सत् शिक्षा प्राप्त करके जो जन परोपकार परायण हैं वे उत्तम कोटि के जन हैं और स्वार्थ साधकजन सामान्यजन कहे जाते हैं, पर जो जन बिना कारण ही लोगों का अहित करते हैं, उनके लिए तो क्या कहा जाय।

इसी सन्दर्भ में आचार्य प्रवर ने बताया है कि जिस शिक्षा से राष्ट्र का वास्तविक हित हो उसका अर्जन प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

अपने लेख का उपसंहार करते हुए आचार्य प्रवर ने सुस्पष्ट किया है कि हम कौन हैं? हमारा क्या कर्तव्य है? हमें अपनी उन्नति के लिए कैसी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए? यदि इन तथ्यों की उपेक्षा कर दी गई तो राष्ट्रोन्नति कथमपि सम्भव नहीं है। हमें अपनी उन्नति के लिए सर्वदा और सतत सतर्क और प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य चरणों के प्राचीन लेखों के आधार पर शिक्षा के सन्दर्भ में संक्षेप में कुछ निवेदन किया गया है। विस्तार से लिखने के लिए समय और क्षमता का अभाव ही कारण है। आचार्य चरण ने शिक्षा के सन्दर्भ में अपनी कृतियों में और अपने संस्कृत लेखों में जो विचार प्रकट किए हैं, उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके मूल लेखों को और उनकी कृतियों का अध्ययन करना चाहिए।

ऐसा करने पर भी वस्तु-स्थिति का परिज्ञान सम्भव है। शिक्षाशास्त्रियों और राष्ट्र के कर्णधारों को शिक्षा के सन्दर्भ में आचार्य प्रवर के बहुमूल्य सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिए। राष्ट्र की सर्वतोमुखी समुन्नति के लिए राष्ट्रोचित शिक्षा की अनिवार्यता परम आवश्यक है।

आशा है देश के शिक्षाविद् आचार्यवर्य द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने का प्रयास करेंगे।

८९०, बरकत नगर, जयपुर।

□

राष्ट्रीयता के प्रबल पोषक : श्री अमृतवाग्भवाचार्य

—शान्तिस्वरूप अग्निहोत्री
एम०ए०, एल०एल०बी०

वीतराग और ब्रह्मनिष्ठ होकर भी—पूज्यपाद श्री बाबाजी महाराज (श्री अमृत वाग्भवाचार्य) घोर राष्ट्रनिष्ठ विभूति थे। उनकी मान्यता थी कि जिस व्यक्ति में राष्ट्रीयता और राष्ट्रनिष्ठा नहीं है, वह कभी—आध्यात्मिक पथ पर प्रगति नहीं कर सकता।

भारत की पराधीनता के उन दिनों में जब राष्ट्रीयता एक अपराध मानी जाती थी तब भी बाबा महाराज अपनी वाणी, कर्म और साहित्य संरचना के द्वारा निरन्तर देशभक्ति के प्रचार में लगे रहते थे। वे अपनी बात कहने में अत्यन्त निर्भय थे।

उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा राष्ट्रीयता और राष्ट्रनिष्ठा की अभिव्यक्ति दी। अंग्रेजी शासन काल में ही शिमला (सोलन) से 'श्री स्वाध्याय' नाम से एक हिन्दी मासिक पत्र प्रारम्भ किया जिसमें वे सदैव अंग्रेजी शासन की कठोर आलोचना करते रहे।

देश में हिन्दूपर्व और उत्सवों पर भी वे इस बात का ध्यान रखने के लिए जनता को प्रेरित करते थे कि अपने देश का धन दूसरे देशों में न जाये।

उस समय पड़ने वाले कुम्भ पर्व पर भी 'श्री स्वाध्याय' के माध्यम से उन्होंने जनता को सुझाव दिया कि प्रयाग में कुम्भ पर जाने की अपेक्षा अपने निकट के तीर्थ पर जाकर देश काल और पात्र का विचार रखते हुए वे दान-पुण्य कर सकते हैं। वह उनको अधिक फलदायी हो सकता है।

राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रनिष्ठा के अभिवर्द्धन के लिए ही—परम श्रद्धेय श्रीमदामृत वाग्भवाचार्य द्वारा प्रणीत "श्रीराष्ट्रालोक" देववाणी में रचित भूतल की एक अद्वितीय रचना है। अपने देश की परतन्त्रता की पीड़ा से द्रवित हो, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, तपःपूत ऋषि की अमृतवाणी है, जिसके एक-एक शब्द में म्रियमाण राष्ट्र में नवशक्ति संचार का सन्देश निहित है।

यह सार्वभौमिक राष्ट्रीयता का संदेश वाहक होते हुये भी भारत की तत्कालीन दारुण दशा पर कितना सटीक बैठता है, इसका पता तभी लग सकता है जब इसके अन्तराल का मन्थन किया जाये।

रचेयता ने ग्रन्थ की अन्तिम कारिका में कहा है—

दुष्टाऽराष्ट्रिय पारतन्त्र्य
निगडच्छेदेन तोषावहो।
राष्ट्रालोक उदार बुद्धि विषया
स्वातन्त्र्य दीक्षा गुरुः ॥

भे संसार समुन्नति हृदय तो
वाञ्छन्ति तेषां कृते।
आचार्याऽमृत वाग्भवेन रचितो
ग्रन्थोऽयम स्त्यद्भुतः ॥१०८

[दुष्ट अराष्ट्रियों के पारतन्त्र्य रूपी निगड़ को तोड़कर सन्तोष देने वाले विशाल बुद्धि से ग्राह्य स्वातन्त्र्य दीक्षा का गुरु, यह अद्भुत श्री राष्ट्रालोक ग्रन्थ, जो पुरुष संसार की हृदय से समुन्नति चाहते हैं उनके लिए आचार्य अमृतवाग्भव ने बनाया।]

अराष्ट्रीय शब्द का प्रयोग राष्ट्रीय भावना से विहीन व्यक्तियों के लिए भी आया है और विदेशी शासकों एवं आक्रान्ताओं के लिए भी। दुष्ट अराष्ट्रियों के निगड़ को तोड़ कर सन्तोष देने वाले विशाल बुद्धि से ग्राह्य और स्वातन्त्र्य का दीक्षा गुरु ऐसा कह कर जैसे उन्होंने अपना जयघोष कर दिया हो।

ग्रन्थ की महत्ता इसी से प्रकट होती है कि जब भारत पराधीनता की शृंखला में इस प्रकार आबद्ध था कि कभी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि इसे स्वातन्त्र्य सूर्य का दर्शन लाभ भी उपलब्ध होगा। विदेशी सत्ता का जाल इतना सुदृढ़ था कि उसके विपरीत कुछ भी बोलना और लिखना एक भारी संकट को निमन्त्रण देना था। ऐसे समय में इस ऋषि कल्प विभूति ने अपनी अमरवाणी को इस ढंग से प्रस्तुत किया कि सार्वभौमिक राष्ट्रीयता का उद्बोधन करने के साथ-साथ स्वदेश के लिए भी श्रेष्ठ क्रान्ति का प्रेरक एवं आदर्श बन सके।

मंगलाचरण की प्रथम कारिका है :—
चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृष केतवे।
पितृ पुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमो नमः ।१।

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों के साधन, पिता, पितामह आदि अपने पूर्वजों तथा अपने पुण्य के उत्पत्ति स्थान, अत्यन्त प्रसिद्ध वृषकेतु रूप स्वराष्ट्र को बारम्बार प्रणाम है।]

यहां 'पितृपुण्यभुवे तस्मै' पर ध्यान देने के अतिरिक्त 'स्वराष्ट्राय' शब्द पर भी ध्यान देना आवश्यक है। 'पितृभूमि' हो और पुन्यभूमि हो वही 'स्वराष्ट्र' के रूप में बन्दनीय है। पितृभूमि हमें 'अधिकार सत्ता प्रटान करती है। पुण्यभूमि 'स्नेहसत्ता का प्रादुर्भाव करती है और 'स्व' शब्द आत्मसत्ता प्रदान करता है। यही तीन सत्तायें हैं जिनका संगम आगे चलकर राष्ट्रीय धारा का निर्माण करता है। इसीलिए उसे पुनः पुनः नमन किया गया है।

कोई भी राष्ट्र अपना राष्ट्रीय स्वरूप तभी ग्रहण कर पाता है जब उसके निवासियों में राष्ट्रीय दृष्टि जाग्रत हो। यहां कृतिकार ने राष्ट्र को एक साकार पुरुष की संज्ञा दी है। उसका कथन है कि यदि किसी में राष्ट्र दृष्टि ही जाग्रत नहीं हुई तो वह राष्ट्र को कैसे देख सकेगा। अतः उस मंगलकारिणी राष्ट्र दृष्टि को वह नमन करता है—

राष्ट्र दृष्टि नमस्यामो
राष्ट्र मंगल कारिणीम्।
ययां बिना न पश्यन्ति
राष्ट्रं स्व निकट स्थितम् ।२।

[राष्ट्र का मंगल करने वाली राष्ट्रदृष्टि को हम नमस्कार करते हैं। जिस राष्ट्रदृष्टि के बिना अपने पास ही रहने वाले भी राष्ट्र को नहीं देखते हैं।]

वस्तुत: 'राष्ट्र दृष्टि' का उन्मेष तभी सम्भव है जब कोई राष्ट्र पितृभूत्व पुण्यभूत्व और स्व (निजत्व) का स्वरूप रखता हो। जैसे आध्यात्मिक बोध एक निश्चित अवधारणा के अनुसरण में ही सम्भाव्य है। वैसे ही 'राष्ट्रदृष्टि का उद्रेक भी पूर्ववर्ती त्रिसत्ताओं के संगम का ही परिणाम है।

'राष्ट्रवाद के इस परम रहस्य के अन्तराल में जाने से पूर्व हमें एक बात और भी स्मरण रखनी है। ग्रन्थकार ने अपनी एक कारिका में यह भी कहा है-—

ग्रन्थस्याऽस्य रहस्यं ये
ज्ञातुं वाञ्छन्ति भावुकाः।
पठन्त्वात्मविलासं ते
कामं जित सुधामदम् ।१०६।

[जो भावुक इस ग्रन्थ के रहस्य को जानना चाहते हैं वे अमृत के अभिमान को जीतने वाले 'श्री आत्म विलास' ग्रन्थ को यथेष्ट पढ़ें।]

'श्री आत्म विलास' आचार्य श्री द्वारा विरचित अद्वैत वेदान्त का अनुपम ग्रन्थ है कृतिकार का दावा है कि 'श्री राष्ट्रालोक' का रहस्य जो भावुक जन जानना चाहते हैं वे 'श्री आत्म विलास' ग्रंथ को भली प्रकार पढ़ें।

हमें इस पर प्रारम्भ में ही विचार कर लेना उचित होगा। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा की ही विलास लीला है। इस 'विराट' का विलास जिस प्रकार 'ऋत' और 'सत्य' पर आरूढ़ होकर अपनी लीला कर रहा है, वही ऋत और सत्य राष्ट्र रूपी विलास के लिए भी आवश्यक है।

जिसने 'विराट' के इस लीला विलास को समझ लिया है, वास्तव में वही आर्य है और वही राष्ट्र के लीला विलास को भी गति और विकास दे सकता है। जिसमें विराट के इस लीला विलास को देखने-समझने की दृष्टि का प्रादुर्भाव हो चुका है, उसी में पूर्ण रूप से 'राष्ट्रदृष्टि' का प्रादुर्भाव हो जाता है। तभी 'राष्ट्र पुरुष' से उसका साक्षात्कार हो पाता है। वस्तुत: वहां पर 'राष्ट्र पुरुष' और 'आत्म पुरुष' का अभेद है। ऐसी ही 'राष्ट्रदृष्टि' को कृतिकार ने नमन किया है।

यहीं पर एक और भेद प्रकट होता है। 'राष्ट्रवाद' के सन्दर्भ में जहां तक सैद्धांतिक विवेचन का प्रश्न है यह ग्रन्थ सार्वभौमिक राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। इसे किसी देश विशेष की राष्ट्रीयतां से नहीं जोड़ सकते। किन्तु जहां इसके रहस्य को समझने के लिए 'श्री आत्मविलास' की ओर उन्मुख होते हैं तब आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है कि इसका भीतरी परिवेश तो पूर्ण रूप ले तत्कालीन भारत पर ही घटित होता हैं।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता पर अनेक देशों में अनेक विद्वानों ने चिन्तन किया और अपने-अपने विचारों का प्रणमन भी किया पर इस ग्रन्थ में 'राष्ट्रवाद' का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह अपने ढंग का अनूठा ही है।

आत्मा और आत्मा के विलास को किसी अन्य राष्ट्र में इस रूप में पारिभाषित नहीं किया गया। अतएव ग्रन्थ का वर्ण्य विषय जहां भारत की तत्कालीन परिस्थिति में सन्दर्भ सापेक्षता रखता है, वहीं अपने

कलेवर में सदा सर्वदा के लिए सार्वभौमिक अमरत्व भी लिए हुए हैं।

राष्ट्रदृष्टि को नमन करते हुए कृतिकार स्थान-स्थान पर इसकी वरेण्वता का स्मरण भी दिलाता है—

दरिद्रास्तेऽति दुर्भाग्या
रोगैस्ते समभिप्लुताः ।
येषां नराणां साराष्ट्र
हितदृष्टिर्न विद्यते ।८।

[राष्ट्र का हित करने वाली वह दृष्टि जिन पुरुषों को नहीं होती वे पुरुष दरिद्री अति दुर्भाग्य तथा रोगों से घिरे होते है।]

मानवानां कुले जन्म
लब्ध्वा यै र्जिता न हि ।
राष्ट्र दृष्टिः पुच्छ हीनाः
कोलास्ते गूथ भक्षिणः ॥

[मनुष्यों के वंश में जन्म पाकर भी जिन्होंने वह राष्ट्रदृष्टि नहीं पाई वे विष्ठा भक्षण करने वाले बिना पूंछ के शूकर हैं।]

ग्रस्तं राष्ट्र ग्रहपति
दुष्टाऽराष्ट्रिय राहुणा ।
राष्ट्र दृष्टि विहीनास्तु
कथं पश्यन्तु कौशिकाः ॥१०॥

[दुष्ठ अराष्ट्रिय रूपी राहु से ग्रसे हुए राष्ट्ररूपी ग्रहपति सूर्य को राष्ट्र दृष्टि से रहित (अन्धे) उल्लू किस प्रकार देखें।]

राष्ट्र के लिए निजता और स्वत्व के लिए भी कहा गया है कि राष्ट्र के नेता राष्ट्रियों को वृत्तियुक्त बनायें। कारण राष्ट्र में समस्त राष्ट्रियों का जन्म से ही अपनापन होता है। यही नहीं लंगड़े, लूले और अन्धों की व्यवस्था के लिए भी कहा गया है—

पङ्गवन्ध वधिराऽशक्तः
रोगिणो राष्ट्रियास्तु ये ।
तेम्योऽपि वृत्तिर्दातव्या
राष्ट्रे तेषां निजत्वतः ॥

[पङ्ग, अन्धे, वहिरे अशक्त तथा रोगी जो भी राष्ट्रिय हैं उन सभी को वृत्ति देनी चाहिये। कारण राष्ट्र में उनका स्वत्व है।]

परतन्त्र राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए कृतिकार ने 'राष्ट्रिय लोगों को बार-बार धिक्कारा है :—

अस्वतन्त्रे वसन्तोऽपि
राष्ट्रे गृह सुखार्थिनः ।
भवन्ति पण्डिता ये ते
नूनं रौरव गामिनः ॥७१॥

[परतन्त्र राष्ट्र में रहते हुए भी जो घर गृहस्थों के सुखों की इच्छा रखते हैं, तथा अपने को पण्डित समझते हैं वे निश्चय से रौरव नरक में जाते हैं।]

वरं प्राण परित्यागो
निरन्ने निर्जले स्थले ।
श्व वृत्या जीवनं नैव
वरं राष्ट्रहितैषिणांम् ।७५।

[राष्ट्र हितैषी पुरुषों का निरन्न और निर्जल स्थान ये प्राण छोड़ देना तो श्रेष्ठ है किन्तु श्ववृत्ति से जीवन करना अच्छा नहीं है।]

स्वातन्त्र्यं भिक्षया नैव
कदाचिदपि लभ्यते ।

योगक्षेम समर्थं का
राष्ट्र शक्तिः प्रदायिनी ॥८२॥

[भीख मांग कर कभी भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। योग तथा क्षेम में प्रभाव वाली राष्ट्र शक्ति ही केवल समर्थ है, ऐसा निश्चय है।]

यया शान्त्या पराधीनं
राष्ट्रं भयति सा न हि।
शान्तिः किन्तु नितान्तं सा
केवलं क्लीवता मता ॥८५॥

[जिस शांति से राष्ट्र परतन्त्र होता है वह शान्ति नहीं वह तो केवल कायरता है।]

न स्वतन्त्रं स्वराष्ट्रं ये
कर्तुमिच्छन्ति मानवाः।
ततोऽऽधिका महामूर्खा
सन्ति केऽत्र भुवस्तले ।१०५।

[जो मानव अपने राष्ट्र को स्वातन्त्र करने की इच्छा नहीं करते, इस पृथ्वी की पीठ पर अधिक महान मूर्ख कौन हो सकते हैं ?]

'संकान्ति पञ्चदशी' भी उन्हीं की रचनाओं में से एक लघु किन्तु महत्वपूर्ण रचना है जो राष्ट्रीय विकास की संरणि को प्रतिपादित करती है।

'सत्तपदी हृदषम्' में उन्होंने शिव और शक्ति के स्वरूप में नव विवाहित युगल को देखा है। वैवाहिक संस्कार के अवसर पर 'सप्तपदी' उस संस्कार का एक आवश्यक अंग है।

पूज्य आचार्य श्री श्री राष्ट्रनिष्ठा को देखकर सहसा यह स्मरण हो उठता है कि जिस प्रकार आधशंकर ने अपने समय में भारत की अखंडता को आध्यात्मिक परिवेश देकर सुरक्षित किया है, उसी प्रकार इस वीतराग ब्रह्मनिष्ठ विभूति ने भी अपने समय के सन्दर्भ को आध्यात्मिक परिवेश देकर भारत की राष्ट्रीय एकता, अखण्डता का पुनर्जागरण किया है।

५२—गैटोर रोड, ब्रह्मपुरी जयपुर

□

॥ श्री ॥

महामहिम आचार्य श्रीमद् अमृतवाग्भव प्रणीत ग्रन्थः

१. श्रीमहानुभव शक्ति स्तवः (संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित)
२. श्री परशुराम स्तोत्रम् (हिन्दी अनुवाद)
३. श्री विंशतिकाशास्त्रम् (संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या)
४. श्री सप्तपदी हृदयम् (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद)
५. श्री संजीवनी दर्शनम् (संस्कृत-हिन्दी-अनुवाद)
६. श्री सङ्क्रान्ति पंचदशी (हिन्दी अनुवाद सहित)
७. श्री मन्दाक्रान्ता स्तोत्रम् (हिन्दी व्याख्वा)
८. श्री आत्मविलास (हिन्दी व्याख्या)
९. श्री सिद्धमहारहस्यम् तथा दैशिक दर्शनम् (हिन्दी टीका)
१०. श्री राष्ट्रालोक (हिन्दी अनुवाद)
११. श्रीमद् अमृत स्तोत्र संग्रह (हिन्दी अनुवाद)
१२. श्री परशिव स्त्रोत्रम् तथा वस्तु-स्थिति-प्रकाश (हिन्दी व्याख्या)
१३. श्री सिद्धमहारहस्यम् (मूल)
१४. श्री मदमृतसूक्ति पञ्चाशिका (संस्कृत व्याख्या)

अन्य-प्रकाशन

१५. श्री गुरुवर स्तव (हिन्दी अनुवाद)
१६. परमपूज्य श्री बाबा महाराज (संक्षिप्त जीवनी)
१७. आचार्य श्री अमृतवाग्भव-दर्शन